# साहित्य का सपूत

साहित्य-सुधार पर हास्यपूर्ण अनमोल नाटक

लेखक—

श्री० जी० पी० श्रीवास्तव

बी० ए०, एल्-एल्० बी०

प्रकाशक—

चाँद प्रेस लिमिटेड

चन्द्रलोक—इलाहाबाद

अक्टूबर, १९३४

प्रथम संस्करण ] [ मूल्य १।)
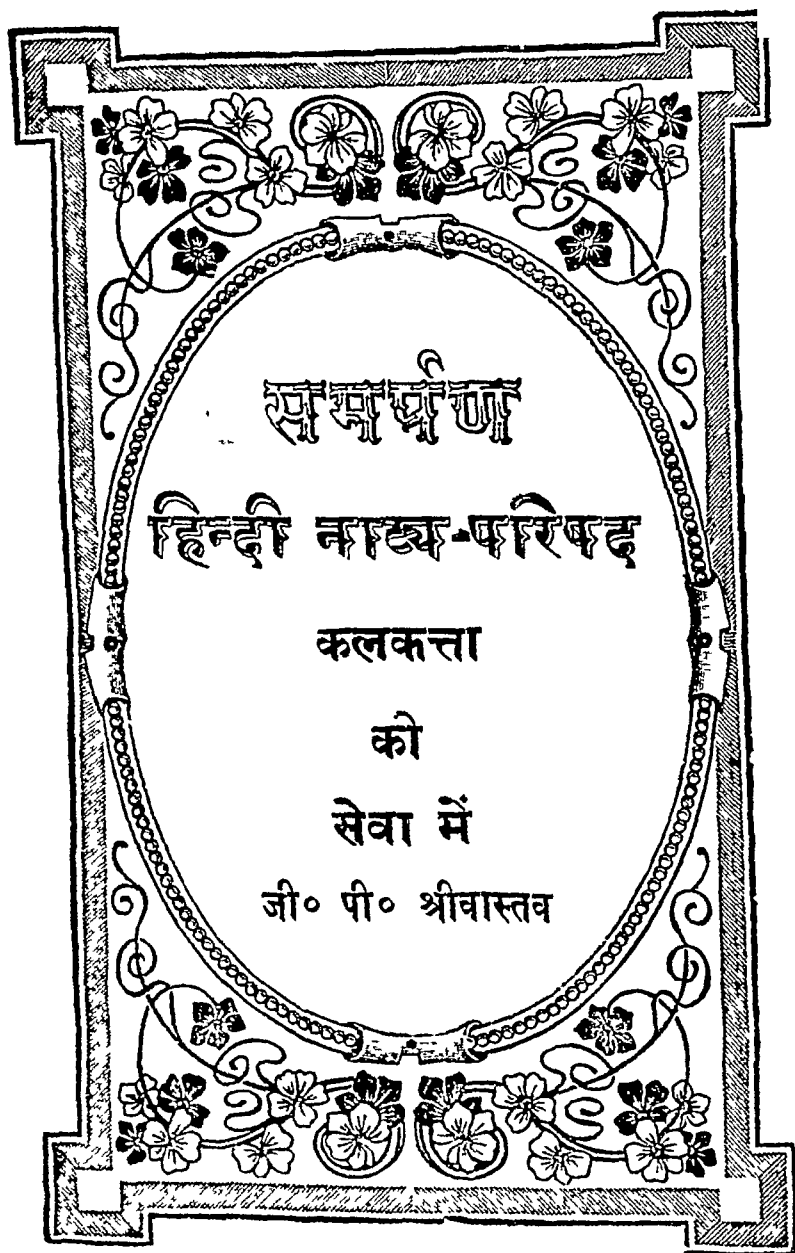
समर्पण
हिन्दी नाट्य-परिषद
कलकत्ता
को
सेवा में
जी० पी० श्रीवास्तव

# वक्तव्य

तो श्री० जी० पी० श्रीवास्तव की सभी रचनाएँ महत्वपूर्ण हुआ करती है। परन्तु यह "साहित्य का सपूत" नामक नाटक, जो आपके हाथ में है, कैसा अपूर्व और कितना महत्वपूर्ण है, इसका पता तभी चल सकता है जब आप इसके विषय पर ध्यान देंगे। 'साहित्य-सुधार' का विषय स्वभावतः कुछ ऐसा टेढ़ा है कि इसे व्याख्यान के अखाड़े से खींच कर कहानी-क्षेत्र में लाने का साहस अभी तक तो किसी लेखनी मे देखने को नही मिला था। मगर हमारी हिन्दी के सच्चे हितैषी श्रीवास्तव जी ने अपनी लेखनी के चमत्कार से इस विषय को भी कहानी या उपन्यास क्या, बल्कि एकदम नाटक बना डाला और वह भी ऐसा रोचक और हास्यपूर्ण कि इसके लिए हिन्दी अवश्य ही सदा आभारी रहेगी। कहानी की रोचकता लिये हुए इसमें ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की गई हैं, जिसमे साहित्यिक संसार के सभी छीछालेदर स्पष्ट हो जायँ। कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी, हास्य तथा कविता ही नहीं, वरन् भाषा-शैली और वर्णमाला तक के दोषों पर चोट की गई है, जो हमारे यहाँ प्रचलित हैं, और साथ ही उनके सुधार के भी उपाय बताये गये है, जिससे नाटक का महत्व कितना

बढ गया है, कहने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए श्रीवास्तव जी ने स्वयं भी अपने भाषणों में, जो उन्होंने पटना, प्रयाग और कलकत्ते मे हास्य-सम्मेलनों के सभापति के आसन से दिया था, इसी नाटक के अंशों से उदाहरण दिया है।

रङ्गमञ्च की दृष्टि से हास्य-नाट्य की युक्तियों से भरा हुआ होने पर भी इसमें नाट्य-कला की बहुत सी ऐसी नयी-नयी युक्तियों की उत्पत्ति की गई है, जिनके लिए लेखक की अनोखी सूझ की बिना प्रशंसा किये नहीं रहा जाता। जैसे अख़बार के भीतर हाथ डाल कर प्रणाम करना, प्रणाम करने के उद्योग में पगडी का ज़मीन पर गिरती रहना, साफ़ा बाँधने में पूरे मुँह का बँध जाना, पीपे पर बिठाल कर घुमाना, सर पर मेज़ उठाये चल देना, इत्यादि। इनके उचित नाट्य पर हँसते-हँसते दर्शकों का क्या हाल होगा, अनुमान करने की बात है।

इसमे व्यङ्ग और कटाक्ष भी अपनी गहराई की पूरी मात्रा के साथ हास्य और नवीनता की खासी बहार दिखाते है। जो साहित्यिक अपने कल्पित संसार को प्राकृतिक संसार से अनमेल ढालते हैं, उनकी अनुभव-हीनता पर लेखक ने आँख-कान पर पट्टी बँधवा कर असली बताने मे बड़ी गहरी चुटकी ली है। इसी तरह सासनलेट और खद्दर के दोहरे रूप वाले कुर्ते से ढोंगी देश-सेवकों की अच्छी ख़बर ली है। दुल्हिन द्वारा दूल्हेराम का इम्तहान लिया जाना वास्तव में बडी मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद नवीनता है। ख़ासकर विवाह-इच्छुक वृद्धों के लिए। इस परीक्षा में मुँह पर कालिख लगवा देना सोने में सुहागा का काम देता है।

कुमारी-प्रेम का विकास चपला के चरित्र में और प्रेम का प्रभाव संसारीनाथ पर दोनों ही अत्यन्त स्वाभाविक रीति से दर्शाये गये हैं। चरित्र-रचना के सम्बन्ध में इतना ही कहना काफ़ी है कि साहित्यानन्द जी पग-पग पर इसका डङ्का स्वयं ही पीट रहे हैं।

इस नाटक द्वारा हिन्दी-संसार का यथेष्ट मनोरञ्जन ही नहीं, वरन् उसका बहुत कुछ सुधार भी होगा। आशा है, हमारे प्रेमी पाठक श्रीवास्तव जी की अन्य रचनाओं की भाँति इसे भी अपना कर उनकी और भी रचनाएँ शीघ्र प्रकाशित करने के लिए हमारा उत्साह बढ़ायेंगे।

—प्रकाशक

---

# नाटक के पात्र और पात्री

१—साहित्यानन्द—एक अधेड़ साहित्यिक मूर्ख।

२—संसारीनाथ—चपला का प्रेमी।

३—यदुनाथ<br>
४—रमाकान्त<br>
५—धनीराम } —संसारीनाथ के साथी।

६—टेसू—साहित्यानन्द का बालक-नौकर, बाद को तिलोत्तमा।

७—बजरबट्टू<br>
८—रामदयाल } —लेखक-गण

९—डण्डेबाज़

१०—लठैतमल

११—एक अखबार बेचने वाला,<br>
कुछ लड़के।

## पात्री

१—सरला—साहित्यानन्द की स्त्री

२—चपला—साहित्यानन्द की लड़की

३—दासी—धनीराम की दासी

——

## पहला दृश्य

[ स्थान—रास्ता ]

( संसारीनाथ )

संसारी—( अकेला ) बस संसारीनाथ ज़रा ठहर जाओ। सोच-समझ लो, तब आगे बढ़ो। तुम चपला को प्यार करते हो। जब से देखा है, उसी दम से। मगर इसका परिणाम आह ! प्रेम में परिणाम सोचने का किसे होश रहता है ? जाने दो, फिर भी तुम अपनी चपला को दिल ही दिल प्यार करते रहे, दूर ही दूर से उसे देख-देख कर मरते रहे और उधर उसका कहीं ब्याह हो गया तब ? उफ ! कलेजे में गोली लग गई ! हाय ! तब क्या करूँ ? उसके पिता से मेल-जोल पैदा करूँ ? मगर इससे फ़ायदा ? वह भला क्यों अपनी लड़की मुझ ऐसे रँडुये को सौंपने लगे ? दूसरे डरता हूँ कि कहीं वह मेरा भाव ताड़ते ही अपनी गली में मेरा

आना-जाना न बन्द करा दे ? क्योंकि यहाँ विलायत नहीं, हिन्दुस्तान है, जहाँ प्रेम का सत्कार भण्डा फूटते ही बस लात-घूँसों ही से होता है। बला से, जब इसकी नौबत आयेगी, तो चपला की खातिर यह भी सहूँगा। मगर तब तक तो इस मेल-जोल के बल पर उसके घर पर कुछ देर अटकने का सहारा तो हो जायगा। और यों कभी शायद उससे दिल का हाल कहने का अवसर भी पा जाऊँ। बस-बस यही ठीक है। मगर उसके पिता से घनिष्टता पैदा करना भी तो टेढ़ी खीर है। क्योंकि नित्य ही सलाम करते-करते मेरे हाथ की चूल तक ढीली पड़ गई, मगर वह मुझसे सीधे मुँह कभी बोले भी नहीं। ख़ैर, आज मैं जाकर उनके गले पड़ता हूँ। सुनता हूँ उन्हे साहित्य का कुछ भ्रम भी है, क्योंकि वह साहित्य-सेवी बनते हैं और अपने को साहित्यानन्द कहते हैं। इसलिए मैं भी जाते ही साहित्य का खटराग छेड़ता हूँ। देखूँ क्या कहते हैं और तब वह किस तरह मिलते हैं। वह लो, वह तो आप ही इधर आ रहे हैं।

( साहित्यानन्द का अख़बार पढ़ते हुए आना )

( संसारीनाथ साहित्यानन्द के सामने जाकर प्रणाम करता है, मगर वह बिना देखे ही अख़बार पढ़ता हुआ पलट पड़ता है। तब वह दूसरी तरफ़ जाकर प्रणाम करता है, पर फिर साहित्या-नन्द उधर से घूम जाता है। )

संसारी—( अलग ) वाह ! वाह ! यह तो ऐन मौके पर घूम पड़ते हैं। उस पर सामने अख़बार की आड़ और पीछे इनकी पीठ की दीवाल, इन्हे सलाम किधर से करूँ ? अच्छा इनके रास्ते मे खड़ा हो जाऊँ, आखिर इधर ही तो लौटेंगे।

( संसारीनाथ उसके सामने बीच में खडा हो जाता है और जब वह लौट कर बिल्कुल पास पहुँचता है, तब यह अपने दोनों हाथ जोड़ कर उसके अख़बार के नीचे डाल कर झट से उठाता हुआ इस तरह प्रणाम करता है कि अख़बार साहित्यानन्द के हाथ से छूट कर संसारीनाथ के सर पर होता हुआ गिर पडता है। )

संसारी—प्रणाम !

साहित्यानन्द—( घबड़ा कर ऐनक के ऊपर से घूर कर ) कौन ?

संसारी—संसारीनाथ।

साहित्यानन्द—तुम बड़े बेहूदे हो – नहीं ठहरो—(जेब से हिन्दी की एक पाकेट-डिक्शनरी निकाल कर और जल्दी-जल्दी उसे लौट कर ) हाँ, महा असभ्य हो, जो इस तरह रास्ते में—उहुँक—इस प्रकार मार्ग मे प्रणाम करके मुझे साहित्य का आनन्द लेने मे विघ्न डालते हो, जानते नहीं कि मैं साहित्य-सेवी हूँ।

( साहित्यानन्द बकता हुआ अपना अख़बार उठाता है और फिर उसे उसी तरह पढ़ने लगता है। )

संसारी—( अलग ) भाई वाह ! यह तो अजीब जीव निकले। नाहक़ ही मैं इतने दिनों तक इनसे हिचकता रहा। लीजिए मेरा प्रणाम करना ही बेकार हो गया, वह फिर अख़बार पढ़ने लगे। मगर अब घबराहट कैसी संसारीनाथ ? इन्होंने तो अपने चरित्र का तमाशा एक ही जुमले मे दिखला ही दिया। अब क्या है। बस हाथ धो के पीछे पड़ जाओ। ऐसे आदमी तो बड़े भाग्य से मिलते हैं।

( लपक कर साहित्यानन्द के पास जाता है )

संसारी—( साहित्यानन्द को हिला कर ) महाराज !

साहित्यानन्द—(अख़बार से बिना अपनी नज़र हटाते हुए) क्या ?

संसारी—ज़रा इधर भी ध्यान दे तो कुछ कहूँ।

साहित्यानन्द—( ऐनक खसका कर ऊपर से घूरता हुआ ) कौन, फिर संसारीनाथ ? मगर—उहुँक—किन्तु हाँ, किन्तु 'ज़रा' के स्थान पर 'तनिक' शब्द का प्रयोग करो।

संसारी—माफ़ कीजिए, मुझे अपने भावों को आपकी तरह अनुवाद करना नही आता। मैं तो उन्हे बस ज्यों का त्यों बोलना जानता हूँ।

साहित्यानन्द—आपकी तरह नहीं जी, आपके सदृश, कहो।

संसारी—आपके सदृश ?

साहित्यानन्द—हाँ, तब जाकर तुम्हारी भाषा शुद्ध हिन्दी भाषा कहला सकती है।

संसारी—मगर यहाँ पर तो "आपकी तरह" ही कहने मे आसानी मालूम होती है और यही मुँह से निकलता भी है।

साहित्यानन्द—ऐसे मुँह पर थप्पड़ मारो। और उसे समझाओ कि वह अपनी सरलता पर न जाया करे, वल्कि—उहुँक—वरन्, हाँ वरन् बोलते समय हिन्दी-कोष के शुद्ध हिन्दी शब्दों पर ध्यान रक्खा करे।

संसारी—तो यह कहिए आप हिन्दी को मातृ-भाषा नहीं, बल्कि कोष-भाषा समझते हैं। मगर महाराज, इस तरह तो बातचीत बिल्कुल बनावटी हो जायगी। न उसमे मुहावरा होगा और न भाव ही रह सकता है।

साहित्यानन्द—तो क्या हुआ ? परन्तु वह हम ऐसे साहित्य-मर्मज्ञों की दृष्टि मे साहित्यिक भाषा तो होगी।

संसारी—साहित्यिक भाषा कैसी ?

साहित्यानन्द—देखो, जैसे कहना हो कि मैं आता हूँ, तो कहना चाहिए कि "मै आगमन करता हूँ।" जैसे यदि कहना हो कि "वह दिखाई पड़ते ही भाग खड़े हुए", तो कहो कि "वह दृष्टिगोचर होते ही पलायन कर गये।"

संसारी—बाप रे बाप ! यह तो मुझसे नही हो सकता। नये सिरे से जन्म लेकर इस तरह बोलना सीखूँ, तो अलबत्ता मुमकिन है।

साहित्यानन्द—नही, उद्योग करने से अब भी सम्भव है। मगर—नहीं-नहीं—किन्तु, हाँ किन्तु अलबत्ता मुमकिन के स्थान पर क्या नाम के—ठहरो—( जेब से डिक्शनरी निकाल कर उलटता है )

संसारी—अजी "अलबत्ता मुमकिन" को मारिए गोली। किस तरह यह मुमकिन है, यह तो बताइए !

साहित्यानन्द—इसकी तो बड़ी सरल युक्ति है।

संसारी—क्या ?

साहित्यानन्द—बस मेरी तरह—उहुँक-उहुँक—मेरे प्रकार हिन्दी का एक कोष जेब मे सदैव रक्खा करो। ( किताब दिखा कर ) यह वही है। इसी मे से अलबत्ता, मुमकिन की हिन्दी ढूँढ़ कर अभी बताता हूँ। ठहरो।

संसारी—( अलग हँसता हुआ ) राम ! राम ! वाह रे साहित्य-सेवी ! क्यों न हो ! तभी हिन्दी-उपन्यासों में स्वाभाविकता अपने कर्मों को रोया करती है। ( प्रकट ) महाराज इस कोष की जान छोड़िए। "अलबत्ता मुमकिन" हिन्दी नहीं, तो क्या विलायती है, यह तो कहिए ?

साहित्यानन्द—अरे ! क्या तुम इसे हिन्दी समझते हो ?

संसारी—बेशक। क्योंकि मैं हिन्दुस्तानी आदमी हूँ। हिन्दी को अपनी मातृ-भाषा जानता हूँ। इसलिए जो बोली या शब्द मैं जन्म से बोलता आता हूँ, उसी को हिन्दी समझता हूँ।

साहित्यानन्द—आहाहाहा ! आहाहाहा ! तुम्हारी समझ साहित्यिक नहीं है। कारण ? तुम साहित्य को नहीं जानते, इसीलिए ऐसा कहते हो।

संसारी—( हाथ जोड़ कर ) तो कृपा कर मुझे भी साहित्य से जान-पहचान करा दीजिए, ताकि मेरी भी समझ आपकी सी हो जाय। काहे को इतनी सी बात की कमी के लिए मैं सदा नासमझ बना रहूँ !

साहित्यानन्द—अच्छी बात है। परन्तु इसमें तुम्हारा बड़ा समय लगेगा।

संसारी—कुछ भी नहीं। मैं तो अभी चलने को तैयार हूँ। चलिए मुझे ले चलिए।

साहित्यानन्द—कहाँ ?

संसारी—अपने साहित्य जी के पास, उनसे जान-पहचान कराने। अब तो बिना उनसे मिले मुझसे रहा न जायगा। ( हाथ जोड़ कर ) बस अब ले चलिए। देर न कीजिए।

साहित्यानन्द—( घबरा कर ) अरे ! तो साहित्य कोई मनुष्य थोड़े ही है, जो तुम्हें ले जाकर उससे भेंट कराऊँ ?

संसारी—तो क्या वह कोई भूत-प्रेत है ?

साहित्यानन्द—नहीं जी।

संसारी—आख़िर तब साहित्य कौन सी चीज़ है महाराज ?......क्यों, बताते क्यों नहीं ? क्या आप भी नहीं जानते ?

साहित्यानन्द—कौन, मैं ? वाह ! मै डेढ़ सौ गल्पे पढ़ चुका हूँ। दो-एक दर्जन कहानियों का अनुवाद भी कर चुका हूँ। दस-बीस पत्र-पत्रिकाएँ नित्य ही अवलोकन करता हूँ। ऐसा उच्चकोटि का साहित्य-सेवी होकर भी मैं साहित्य को न जानूंगा, तो और कौन जानेगा ?

संसारी—क्या ख़ूब कहा ! मैं पूछता हूँ साहित्य क्या चीज़ है और आप गिनाने लगे अपनी पढ़ने वाली किताबे।

साहित्यानन्द—उन्हीं में तो साहित्य होता है, परन्तु चीज़ के स्थान पर 'पदार्थ' कहो।

संसारी—तब क्यों नहीं साफ़-साफ़ कहते कि साहित्य किताब को कहते हैं।

साहित्यानन्द—बस-बस यही है। तुमने मेरे मुख की बात कह दी। परन्तु सभी पुस्तकों मे साहित्य नहीं होता।

संसारी—आख़िर साहित्य वाली किताबे होती कैसी हैं ?

साहित्यानन्द—उन पर रेशमी जिल्द मण्डित होती

है। उनमे कई चित्र होते हैं। उनका कागज़ बहुत चिकना होता है। परन्तु कागज़ के स्थान पर क्या कहना चाहिए—ठहरो—( जेब से डिक्शनरी निकालता है )

संसारी—अपनी डिक्शनरी जेब ही मे रहने दीजिए। मैं समझ गया। जैसे विलायती दूकानों के सूचोपत्र। क्यों, यही बात न ?

साहित्यानन्द—नही जी। उनमे अच्छी-अच्छी वार्ता, उम्दा-उम्दा, नहीं-नही, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ गल्पे, बढ़िया-बढ़िया कविताएँ होती हैं, जिन्हे पढ़ कर चरित्र सुधरता और ज्ञान उत्पन्न होता है।

संसारी—यों तो हर आदमी की जीवनी एक न एक कहानी होती है।

साहित्यानन्द—परन्तु उसे साहित्य नहीं कह सकते।

ससारी—क्यों ?

साहित्यानन्द—क्योंकि साहित्य मे हमारा तुम्हारा हाल नहीं होता। वरन् देवी-देवताओं के समान आदर्श चरित्रों का वर्णन होता है, जिसमे लेश मात्र भी कमज़ोरी, उहुँक-उहुँक, निर्बलता, हाँ निर्बलता नहीं होती।

ससारी—ऐसे चरित्र भला रहते कहाँ हैं ?

साहित्यानन्द—साहित्यिक ससार मे।

ससारी—आख़िर वह ससार है किस लोक मे ?

साहित्यानन्द—( अपना सर खुजलाता हुआ ) आखिर के स्थान पर अन्त कहो।

संसारी—अच्छा यही सही। "अन्त वह संसार है किस लोक मे ?" मगर ऐसे जुमले आप ऐसे साहित्य-सेवी ही लोगों के मुँह मे शोभा देते होंगे। मै तो बोल नहीं सकता। खैर, मैने आपकी बात रख दी। अब कृपा करके आप भी मेरी बात का जवाब दे दीजिए।

साहित्यानन्द—क्या पूछा ये चरित्र रहते कहाँ हैं ? .....लेखकों की खोपड़ी मे।

ससारी—धत् तेरे की ! मै वहाँ जाकर उन लोगों के देखने की फिक्र मे था।

साहित्यानन्द—हताश न हो। यदि जनता हम लोगों की कहानियाँ पढ़-पढ़ कर उनके चरित्रों के समान अपना रहन-सहन धारण करेगी, तो यही संसार धीरे-धीरे साहित्यिक ससार बन जायगा ।

संसारी—हाँ, उन लोगों का रहन-सहन कैसा होता है, ज़रा मुझे भी बता दीजिए ।

साहित्यानन्द—वे लोग जन्म से ही ज्ञान छाँटने लगते हैं। उनका वार्तालाप सदैव शुद्ध और उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा मे इतना उत्तम होता है कि तुम दस-बीस कोप रट कर भी वैसी भाषा नही बोल सकते। और इसके अतिरिक्त उनके वाक्य के प्रत्येक शब्द मे धर्म और शिक्षा

का व्याख्यान होता है। उनकी छोटी सी छोटी बातचीत भी इतने महत्व की होती है कि जान पड़ता है कि कोई धर्म-प्रचारक रट कर अपना व्याख्यान सुना रहा है। और क्या ?

संसारी—बलिहारी है ऐसे चरित्रों की महाराज! इनके बल पर आपका साहित्य बेशक फूला न समाता होगा। कला और स्वाभाविकता दोनों बड़ी दुआएँ देती होंगी।

साहित्यानन्द—क्यों नही ? आदर्श की उत्तमता का प्रकाश सभी बातों पर अपनी शोभा दिखलाता ही है।

संसारी—भला आपके साहित्यिक संसार मे खाली शिक्षा और ज्ञान ही होते हैं, प्रेम-उरेम नही होता क्या ?

साहित्यानन्द—वाह होता क्यों नही। वहाँ तो ऐसा उच्च प्रेम होता है, जो इस संसार को नसीब—राम! राम!—सौभाग्य मे नहीं है।

संसारी—कैसा ?

साहित्यानन्द—वहाँ बालक युवा होते-होते किसी बालिका के प्रेम मे पड जाता है। वह नित्य ही उससे मिलता है, परन्तु कभी अपना प्रेम प्रकट नही होने देता। जब उससे उसका विवाह होता है, तभी वह अपना प्रेम दिखलाता है।

संसारी—अगर उस बालिका की उससे नही, किसी दूसरे से शादी हो गई ?

साहित्यानन्द—तब वह प्रेमी तुरन्त जङ्गल मे जाकर संन्यासी हो जाता है या देश सुधारक बन जाता है या कभी-कभी मर भी जाता है।

संसारी—और ऐसी दशा मे बालिका क्या करती है ?

साहित्यानन्द—वह अपने पूर्व प्रेम को बिलकुल भूल कर झट से उसे अपने नव-विवाहित पति के चरणों पर अर्पण कर देती है।

संसारी—अगर वह ऐसा न कर सके ?

साहित्यानन्द—तब वह साहित्यिक संसार से एकदम, नहीं-नही, सहसा—निकाल बाहर कर दी जायगी।

संसारी—ओहो ! तो यह कहिए कि आपके संसार मे प्रेम गिरगिट की तरह रङ्ग बदलता है। आज इधर है, तो कल उधर।

साहित्यानन्द—निस्सन्देह ! क्योंकि यहाँ तो कार्य-कर्ता कर्तव्य होता है। वह जिस समय जिधर आज्ञा देता है, भावों को उसी क्षण उधर ही मुड़ जाना पड़ता है।

संसारी—मगर माफ कीजिएगा, प्रेम तो अपने वश की बात नही है। उसे कर्तव्य क्या, ज्ञान का बाप भी नहीं समझा सकता। तभी तो किसी ने कहा है कि—

"उम्र समझाते कटी आपको ऐ हजरते दिल !
हर जगह आप मगर अपनी-सी कर जाते हैं।"

साहित्यानन्द—राम ! राम ! यह तो इस संसार का हाल है। परन्तु मै तो साहित्यिक संसार की बाते कहता हूँ। यदि इस पद मे तुम पति-पत्नी का प्रेम वर्णन करते, तो देखते मैं इसकी कितनी प्रशसा करता।

संसारी—मै समझ गया। आपके संसार मे हृदय नहीं, केवल खोपड़ी ही खोपड़ी है, तभी वह दिल की बाते समझ नहीं सकता।

साहित्यानन्द—नहीं-नहीं, हृदय भी है। उसकी विशालता दाम्पत्य प्रेम मे देखो। यहाँ पति-पत्नियों मे सोते, उठते-बैठते, मरण-पर्यन्त प्राणप्यारी और प्राणनाथ की ऐसी रट लगी रहती है कि क्या कहूँ ?

ससारी—माफ कीजिएगा। मै हूँ तो मुँहफट, फिर भी आप बुजुर्ग हैं, आपके सामने कहते शर्म मालूम होती है।

साहित्यानन्द—बुजुर्ग नहीं 'वृद्ध सज्जन', शर्म नही 'लज्जा'। हाँ-हाँ कहो। शर्माने—उहुँक—लजाने की कोई आवश्यकता नहीं। कहो-कहो।

संसारी—मियाँ-बीबी के बोल-चाल मे मुझे यह प्राणनाथ और प्राणप्यारी वाली बात बहुत खटकती है। इसके लिए मैं दूसरों की क्यों कहूँ, अपनी ही मिसाल क्यों न दूँ ? मेरी स्त्री जो बेचारी मर गई, वह मुझे बहुत प्यार करती थी, मगर कभी भी मेरे मुँह पर प्राणनाथ न कह सकी।

साहित्यानन्द—आहा ! मैं समझ गया—वह पतिव्रता न रही होगी।

संसारी—( अलग ) अच्छा बचा रहो। ( प्रकट ) आप तो दाम्पत्य जीवन का सुख भोगते-भोगते बुड्ढे हो गये हैं, भला आपके इस जीवन मे कितनी बार प्राणप्यारी और प्राणनाथ की आँधी आई है—ज़रा बताइए तो ?

साहित्यानन्द—अरे ! इसका तो मैंने कभी ध्यान ही नहीं दिया। क्या बताऊँ, गृहस्थी के कामों से इसके लिए कभी छुट्टी नहीं मिली।

संसारी—जब आप खुद ही इस तौर से दाम्पत्य प्रेम नहीं कर सके, तब दूसरों से इसकी कैसे उम्मीद करते हैं ? आप तो साहित्य के सपूत—साहित्यानन्द हैं, आपका तो रहन-सहन, आचार-विचार—सब कुछ अपने साहित्यिक संसार के ढङ्ग पर होना चाहिए। अगर वैसा नहीं हो सकता तो समझ लीजिए, आपका वह संसार कुछ नहीं, दो कौड़ी का है, धोखे की टट्टी है। जहाँ कुछ भी असलियत नहीं, जिधर देखो बस बनावट ही बनावट है।

साहित्यानन्द—नहीं-नहीं, यह गड़बड़-सड़बड़ मैं नहीं मानता, परन्तु इतनी बात अवश्य ठीक है कि मै साहित्य का सपूत और उस पर साहित्यानन्द हूँ और मेरा रहन-सहन साहित्यिक ढङ्गानुसार होना चाहिए।

ससारी—( अलग ) भई वाह ! यह ढङ्गानुसार की एक ही हुई।

साहित्यानन्द—( सोच में ) क्या बताऊँ, मुझे यह बात कभी सूझी ही नही। खैर—उहुंक—अस्तु, जभी से मनुष्य चेते, तभी से सही। बस मै आज ही से अपना रहन-सहन सब कुछ साहित्यिक बनाता हूँ।

( चल देता है )

संसारी—( अकेला ) अरे ! चले गये ! खैर ! जाने दो। मेरे लिए इस वक्त इनकी इतनी ही मुलाकात काफी है। आगे तो मैं अब अपना रङ्ग जमा ही लूँगा। क्या बताऊँ, चपला की खातिर इनका बहुत-कुछ लिहाज़ करना पड़ा, वरना हज़रत तो ऐसे हैं कि बस डुगडुगी बजा कर इन्हे नचाया करो। मगर जब ऐसे लोग हमारे यहाँ साहित्य के सपूत होने लगे हैं, तब तो साहित्य बेचारे का ईश्वर ही मालिक है ?

( जाता है )

"बूड़ा बंस कबीर का, उपजे पूत कपूत।"

( पट परिवर्त्तन )

---

## दूसरा दृश्य

[ स्थान—साहित्यानन्द का मकान ]

( साहित्यानन्द और उनकी स्त्री सरला )

साहित्यानन्द—( हाथ में एक किताब लिये हुए ) देखो, जब मै तुम्हे प्रिये कहूँ, तब तुम मुझे नाथ कहो। जब प्राण-प्यारी कहूँ, तब प्राणेश्वर कहो। क्योंकि तुम मेरी स्त्री हो। समझी ? अच्छा कहता हूँ—प्राणप्यारी...अब तुम अपना वाला कहो। हाँ-हाँ, बोलो, बोलो। उल्लू की तरह—उहुँक ! समान, हाँ उल्लू के समान, अवलोकती क्या हो ?

सरला—तुम्हे आज हो क्या गया है ?

साहित्यानन्द—धत् तेरे की ! फिर वही बात। कुत्ते की दुम—उहुँक ! पूँछ, हाँ पूँछ, कितनी ही सीधी करो, परन्तु फिर टेढ़ी की टेढ़ी। सहस्र ढङ्ग से तो समझा चुका। पुस्तक से पति-पत्नी-सम्बाद का उदाहरण भी सुनाया। उस पर भी तुम नही समझती, तो अब क्या करूँ ?

सरला—अपना मुँह पीटो और मै क्या बताऊँ ! आख़िर, तुम कहते क्या हो ?

साहित्यानन्द—तुम्हारा सर !

सरला—जाओ न कहो। मेरा क्या ?

( जाने लगती है )

साहित्यानन्द—अरे ! कहाँ चली ? ठहरो-ठहरो, फिर कहता हूँ ।

सरला—( रुक कर ) जो कुछ कहना हो आदमी की तरह कहो । नहीं अगर बेहूदा बकोगे तो... .....

साहित्यानन्द—मैं बेहूदा बक रहा हूँ ?

सरला—और नहीं क्या कर रहे हो ? बुड्ढे हो गये और दिन-दहाड़े प्राणप्यारी कहने चले हैं ! शर्म नही मालूम होती ? छि: ! ऐसी मस्ती पर झाड़ू की मार । लड़की की शादी हो गई होती, तो अब तक दो-चार बच्चों के नाना कहलाते । मगर अब भी अपने को छैला ही समझते हो । मिज़ाज से गुण्डई न गई । राम ! राम ! जाओ चुल्लू भर पानी मे डूब मरो । खड़े-खड़े घूरते क्या हो ?

साहित्यानन्द—चुल्लू भर पानी मे तू डूब मर, उहुँक, पानी नही जल, हाँ अञ्जुल भर जल मे तू निमग्न हो जा, जो साहित्यिक वार्तालाप समझने की बुद्धि नहीं रखती । अरी मूर्खा, जो उदाहरण मैंने पुस्तक से सुनाया था, वह ऐसे ही पति-पत्नी के सम्वाद का है, जिनकी पुत्री युवावस्था मे पदार्पण कर चुकी है और इस हेतु वे उसके विवाह की चिन्ता मे निमग्न होकर परस्पर परामर्श करते हैं ।

सरला—हाथ जोड़ती हूँ, घर में श्लोक न पढ़ा करो । अगर संस्कृत भूँकने का बड़ा शौक हो, तो किसी पण्डित

को बुलवा लो, जो तुम्हे मुँह-तोड़ जवाब भी दे सके। मेरे सामने यह भड़भूँजे का सा भाड़ नाहक ही भड़-भड़ाने लगे !

साहित्यानन्द—अयँ ! यह भाड़ की भड़भड़ाहट है ?

सरला—बेशक, जो बोली समझ मे न आये और जो न कहीं बोली जाय, वह भाड़ की भड़भड़ाहट नहीं तो क्या है ?

साहित्यानन्द—वाह ! वाह ! वाह री तेरी बुद्धि ! अरी ! मूर्खा, यही तो सभ्य भाषा है, जिसे हम लोग साहित्य कहते हैं। हमारे ऐसे उच्चकोटि के लेखकगण पुस्तकों मे इसी का प्रयोग करते हैं और इसी मे चरित्रों का वार्तालाप दर्शाते हैं। अब भी विश्वास न हो तो किताब—उहुँक—पुस्तक, हाँ पुस्तक का लिखा सुनाता हूँ। इसका रसास्वादन करके तू अपने जीवन को कृतार्थ कर ले। और इसी प्रकार तू भी मुझसे बोलने का उद्योग कर। देख, तुझसे भी वृद्धा पत्नी अपने प्राणप्यारे पति से कितनी मधुर, सभ्य और सरस भाषा मे कहती है, कान खोल कर सुन—"हे प्राणेश्वर, आज आप इतने मलिन-मुख क्यों प्रतीत होते है ? इसका कारण शीघ्र ही, प्राणनाथ ! अपने मुखारविन्द से प्रकट करके मेरे अन्तःकरण की व्याकुलता निवारण कीजिए। क्यों नाथ ! क्या कन्या के लिए कोई उचित वर कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ ?"

सरला—कौन निगोड़ी ऐसा बोलती है, बताओ तो सही। उसके मुँह पर गिन के सात झाड़ू मारूँ।

साहित्यानन्द—अरे! अरे! यह क्या? ये आदर्श चरित्र हैं, देवियाँ हैं, इनको तू ऐसा कहती है?

सरला—ऐसी देवी को चूल्हे मे झोंक दूँ। कौन ऐसी बेहया है, जो मुँह के सामने प्राणनाथ कहेगी और वह भी ऐसी बाते करते वक्त? राम! राम!

साहित्यानन्द—तो क्या इसे तू झूठ समझती है? किताब—उहुँक—पुस्तक का लिखा भी नही मानती?

सरला—तुम्हारी किताब की ऐसी-तैसी और उसके लिखने वाले को क्या कहूँ?

साहित्यानन्द—ओहो! मै समझ गया। तेरी बुद्धि बड़ी मोटी है। बिना पूरा पृष्ठ सुने तू इन साहित्यिक सूक्ष्मताओं का मर्म नही जान सकती। अच्छा तू भी क्या कहेगी। ले, पूरा अध्याय का अध्याय ही पढ़े देता हूँ।

(पढ़ने के लिए किताब खोलता है, वैसे ही सरला उसके हाथ से किताब छीन कर ज़मीन पर फेंक देती है)

सरला—बस-बस, अपनी पण्डिताई अपने ही पास रक्खो। मुझे इसकी जरूरत नहीं है।

साहित्यानन्द—बेवकूफ कहीं की!—नही-नहीं, मूर्खा कहीं की! यह क्या किया? कैसे नही जरूरत—उहुँक! आवश्यकता—है? तुझे सुनना पड़ेगा।

( फिर किताब उठाता है, मगर सरला अपने कानों में उँगली डाल लेती है )

साहित्यानन्द—अरे ! तूने कानों मे उँगली क्यों लगा ली ? (चिल्ला कर) तूने कानों मे उँगली क्यों लगा ली ?

सरला—क्या करूँ ? तुम्हारी तरह मेरा दिमाग़ ख़राब थोड़े ही है ?

साहित्यानन्द—अच्छा, अच्छा, इसका निर्णय तो बाद को होगा कि मेरा या तेरा, किसका दिमाग़ ख़राब—नहीं-नही—किसका मस्तिष्क दुष्ट है। परन्तु इस समय मैं पुस्तक बिना सुनाये मानने का नहीं। सीधे तौर—उहुँक !—सरल प्रकार न सुनेगी, तो यों सुनाऊँगा।

( किताब रख कर सरला के हाथों को अपने दोनों हाथों से उसके कानों पर से हटाता है )

सरला—बस-बस, कहे देती हूँ, अच्छी बात न होगी।

साहित्यानन्द—( उसके हाथ पकड़े हुए ) हाँ-हाँ, अच्छी बात तो तब होगी, जब तू साहित्यिक भाषा बोलने लगेगी। क्योंकि मेरे ऐसे उच्चकोटि के साहित्य के सपूत की पत्नी को ऐसी गड़बड़ बोली बोलना किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं है, जिसको सुन-सुन कर मैं ख़ुद ही शर्म से पानी-पानी हो जाता हूँ, नही-नहीं—मैं स्वयं ही लज्जा से जल-जल हो जाता हूँ।

सरला—( एकाएक हाथ छुड़ा कर बड़े ज़ोर से हँसती हुई )

हा हा हा ! "लज्जा से जल-जल हो जाता हूँ ।" वाह ! वाह ! क्या कहना है ! हा ! हा ! हा ! अरे मेरे राम ! भला यह किस ज़बान की बोली है ?

साहित्यानन्द—अयँ ! इसमे हँसने की कौन सी बात है ? यही तो शुद्ध और सभ्य भाषा है, जिसे हम लोग हिन्दी-साहित्य कहते हैं। बड़े परिश्रम से अभ्यास करते-करते कहीं इसका बोलना आता है। समझी ? इसीलिए कहता हूँ कि तू भी किताबी—उँह ! पुस्तकी भाषा सुन-सुन कर उसके बोलने का अभ्यास डाल......।

सरला—वाह री आपकी 'पुस्तकी' ! ओ हो हो ! यह बोली तुम्हीं को मुबारक हो। आग लगे ऐसी बोली में, जो सोच-सोच कर बोली जाय। और उल्टे मुझी से कहते हो कि मै गडबड बोलती हूँ आहाहा ! (हँसती है)

साहित्यानन्द—क्यों ? हँसती क्यों है ? ऐसा ही तो पुस्तकों मे लिखा होता है। मिलान करके देख न ले ?

(साहित्यानन्द किताब उठा कर पढ़ने के लिए पन्ने उलटता है)

सरला—मुझे इसकी ज़रूरत ? अपनी बोली भी भला कही किताब से सीखी जाती है ? इस मामले मे किताब निगोडी है क्या चीज ? उसकी सच्चाई-झुठाई की कसौटी तो खुद मेरी जबान है। किताब को लाख बार ग़रज़ हो, तो वह अपनी सचाई की जाँच मेरी बोली से मिलान

करके देखे। क्योंकि पहले बोली पैदा हुई न कि तुम्हारी किताब। ..अरे! तुम फिर पढ़ने की तैयारी करने लगे। अच्छा तो मैं भी अब कानों में उँगली दिये लेती हूँ।

साहित्यानन्द—मिल गया, मिल गया, वही पति-पत्नी वाला सम्बाद। बड़ी देर से इसी को ढूँढ़ रहा था। हाँ, अब सुनो और देखो पत्नी अपने पति को प्रत्येक बात मे प्राणनाथ ही कह कर सम्बोधन (सरला की तरफ़ ग़ौर से ताकता हुआ) अरे! यह क्या? तूने कानों में फिर उँगली डाल ली। धत् तेरे की! अच्छा ठहर जा।

(अपनी जेब से एक काग़ज़ निकाल कर किताब में रखता है। और तब किताब को अपनी बग़ल में दबा कर दोनों हाथों से सरला के कानों पर से उसके हाथों को हटाता है)

साहित्यानन्द—मगर अब पढ़ूँ किस तरह? चपला! ओ चपला!

सरला—(ग़ुस्से से ताकती हुई) भङ्ग पिये हो क्या? हाथ छोड़ो।

(चपला का आना)

चपला—क्या है पिता जी?

साहित्यानन्द—ज़रा मेरी बग़ल से—उहुँक—तनिक मेरी काँख से पुस्तक निकाल कर उसे पढ़ तो देना, जहाँ काग़ज़, नहीं—पत्र रक्खा हुआ है। शीघ्रता करो, अन्यथा यह हाथ छुड़ा लेगी। (चपला को ताज्जुब और दबसट में पड़ी देख कर)

फिर नहीं सुनती ! जल्दी कर ! यहाँ दम फूला जाता है !

( चपला साहित्यानन्द की बग़ल से किताब निकाल कर खोलती है )

साहित्यानन्द—( सरला से ) हाँ, अब ध्यानपूर्वक सुनो ! और मुझे सम्बोधन करने के लिए उन शब्दों को अच्छी तरह से—उहुँक—सुन्दर प्रकार से स्मरण कर लो, बल्कि—नहीं, वरन् मुझे लक्ष्य करके उन्हे कहती भी जाओ ! तब देखो साहित्यिक भाषा का आनन्द। ( चपला से ) पढ़ती क्यों नही ? पढ़ ।

चपला—( पढ़ती हुई ) पाजी, बेहूदा, नालायक़, बद-माश, बदतमीज़......

( साहित्यानन्द के हाथों से सरला के हाथ छूट जाते हैं )

साहित्यानन्द—( ताज्जुब मे ) यह क्या ? ( चपला से ) आयँ ! आयँ ! अरे यह क्या पढ़ने लगी बेवकूफ !

सरला—( ताली बजा कर ) ओ हो हो ! बहुत ठीक । शाबाश बेटी, ख़ूब पढ़ा ( साहित्यानन्द से ) अब कहो तो तुम्हे ऐसे ही पुकारा करूँ ।

साहित्यानन्द—नहीं-नहीं ।

सरला—कैसे नहीं ? किताब की लिखी बात है। अब तो मैं तुम्हे ऐसे ही पुकारा करूँगी । लो पुकारती हूँ......

साहित्यानन्द—( सरला की तरफ़ झपटता हुआ ) फिर नहीं मानती ।

( सरला भाग कर कोने में छिप जाती है और साहित्यानन्द पलट कर चपला की ओर दाँत पीसता हुआ बढ़ता है )

चपला—( किताब से काग़ज़ निकाल कर दिखाती हुई ) जैसा इसमे लिखा है, वैसा ही तो पढ़ रही हूँ।

साहित्यानन्द—अरे राम ! राम ! तूने इसे पढ़ दिया ? हाय ! हाय ! इसमें तो मैंने इन गालियों को उनके साहित्यिक शब्द कोष से ढूँढ़ने के लिए अलग नोट कर लिया था। इसे तुझे किसने पढ़ने को कहा था ?

चपला—आप ही ने तो !

साहित्यानन्द—मैंने कहा था ? खड़ी तो रह उल्लू की पट्ठी कहीं की।

( साहित्यानन्द चपला को मारने के लिए झपटता है। वैसे ही संसारीनाथ आता है। चपला भाग कर उसकी गोद में छिपती है। दूसरी तरफ़ से सरला सामने निकल पड़ती है )

संसारीनाथ—( चपला को अपनी गोद मे पाकर अलग ) वाह री किस्मत ! यह तो बिल्ली के भाग्य से छींका टूटा !

सरला—उल्लू की पट्ठी नही, उल्लू की पुत्री कहिए। अब वह आपकी किताबी बोली कहाँ गई ? जादू वह जो सर पर चढ़ के बोले !!

( साहित्यानन्द घूम कर सरला की तरफ़ ताकता है )

( पट-परिवर्तन )

---

## तीसरा दृश्य
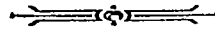
[ स्थान—सड़क ]

( एक अखबार बेचने वाला कुछ किताबें और अख़बार बेचता हुआ आता है )

बेचने वाला—लीजिए-लीजिए "दैनिक समाचार" एक-एक आने, "भारत-प्रभा" दो-दो आने।

( यदुनाथ और रमाकान्त का आना )

यदुनाथ—लाना भाई एक "दैनिक समाचार" दे देना।

बेचने वाला—(अख़बार देकर) उपन्यास भी दिखाऊँ? बहुत बढ़िया हैं।

यदुनाथ—क्या बँगला या अङ्गरेजी का अनुवाद है?

बेचने वाला—नही साहब, बिलकुल मौलिक है, देखिए तो।

यदुनाथ—तब रहने दे। सब देखे पड़े हैं।

बेचने वाला—वाह साहब! अभी तो प्रेस से निकले हैं, आप कहते हैं देखे पड़े है। अजी महाशय, ये सब नये उपन्यास हैं।

यदुनाथ—हॉ, कहने के लिए नये होंगे, मगर उनमे बातें तो पुरानी होंगी, वही जो सब मे अक्सर हुआ

करती हैं। कहानी एक ही ढङ्ग की। चरित्र-चित्रण, भाव-प्रदर्शन, बातचीत, सब एक ही तरह। किसी मे भी नवीनता नहीं। दो सफा पढ़िए और अन्त तक का हाल जाँच लीजिए। ऐसी कहानियाँ पढ़ने मे क्या मजा? अनुवादित होते तो ले भी लेता। क्योंकि अनुवाद मे और बातों का आनन्द न सही, तो कम से कम प्लॉट-बन्धन ही मे कुछ नवीनता या विचित्रता देखने में आती।

बेचने वाला—यह सब न लेने के बहाने हैं बाबू जी!

(जाता है)

रमाकान्त—हाँ भाई यदुनाथ, यह तो मै भी देखता हूँ कि हमारे यहाँ किताबों की इतनी भरमार होते हुए भी उनमे विचित्रता का आनन्द नही आता। कोई नई बात घटना-बन्धन मे, विचारों मे या वर्णन-शैली मे, गरज़ किसी मे भी नही मिलती। आखिर क्यों?

यदुनाथ—मै कोई ज्ञानी तो हूँ नहीं कि इसका कारण ठीक-ठीक बता सकूँ। फिर भी जहाँ तक मेरी बुद्धि काम करती है, तहाँ तक मै यही समझने के लिए मजबूर होता हूँ कि हमारे यहाँ के लेखक बस लेखक बनने से मतलब रखते हैं, लेखक होना नहीं चाहते। इसीलिए इस कला मे मेहनत नही करते।

रमाकान्त—मेहनत की एक ही कही। भला लिखने मे कौन सा पहाड़ ढाना पड़ता है?

यदुनाथ—यही तो भूल है, भाई रमाकान्त, कि लोग समझते हैं कि यह बहुत आसान काम है और इसे सभी पढ़े-लिखे लोग कर सकते हैं। अगर कही ऐसा होता तो आज के दिन हज़ारों पढ़े-लिखों मे सिर्फ दस या पाँच लेखक न निकलते, बल्कि एक सिरे से सभी लेखक हो जाते। क्योंकि नाम पैदा करने का किसे शौक नही होता ? मगर इसमे तो ऐसी मिहनत दरकार है कि बहुतो के छक्के छूट जाते हैं। एड़ी-चोटी का पसीना एक हो जाता है। उस पर भी बरसों सर मारने पर कही सफलता की झलक दिखाई पड़ती है।

रमाकान्त—मगर मेहनत किन बातों मे पड़ती है, यह तो कहो ?

यदुनाथ—मानवी स्वभाव के रहस्यो की थाह लेने मे, भाव-समुद्र को मथने मे, चरित्रों को खोजने मे, प्रकृति और स्वाभाविकता को अपनाने मे। इन बातों को ढूँढ़ना, परखना और समझना, फिर उनकी बारीकियाँ दिखला कर उनमे नई-नई बाते पैदा करना ठट्ठा नही है। इसके लिए खाली विद्या-बुद्धि और ज्ञान ही नही, बल्कि दिल-दिमाग़ और आँखे भी चाहिए।

( संसारीनाथ का आना )

ससारीनाथ—कौन कहता है ? जहाँ जरा दुम हिला देने से काम निकलता हो, वहाँ इतना दिमाग़ खर्च करना

कौन सी अक्लमन्दी है जनाव ? सारी विचित्रता, नवीनता, मौलिकता और योग्यता अब तो सिर्फ इतनी सी बात मे घुसी हुई है कि एक थे राजा, उन्होंने खाया खाजा, उसके बाद एक छोटी सी शिक्षा की दुम उसमे खोंस दो और वाहवाही लूट लो। जब नाम कमाने का इतना सहल नुस्खा हो रहा है, तब किसे पड़ी है कि साहित्य के लिए माथापच्ची करे ? दूसरे वेगार के काम मे मेहनत ? राम कहो।

रमाकान्त—वाह ! भाई संसारीनाथ, खूब कहा ! हद कर दी। क्या हम लोगों की वातचीत यहीं खड़े सुन रहे थे ?

ससारी—अरे ! यार डेढ़ कोस से तो तुम लोगों की आवाज़ सुनाई पड़ती है, छिप कर सुनने की क्या ज़रूरत ?

यदुनाथ—अजी मारो गोली इन वातों को। इनकी इस बात के आगे अब इस पर कुछ कहना बेकार है। हाँ भाई संसारीनाथ, तुम अपनी कहो। तुम्हारे प्रेम का क्या हाल है ?

संसारी—आह ! तुमने भी क्या याद दिला दिया। हाल क्या बताऊँ दोस्त, बेहाल है। तकदीर ने तो वड़ी मदद की। पहिले ही दिन साहित्यानन्द के घर मे क़दम रखते ही उनकी बीवी और लड़की दोनों सामने पड़ गईं। फिर

क्या, भीतर तक मेरी पैठ हो गई और घर मे आने-जाने का सहारा हो गया। ईश्वर की कृपा से चपला की माँ मेरे बर्ताव से खुश होकर मुझे अपने एक निजी आदमी की तरह मानने भी लगी है, मगर अफसोस! जिसके लिए उन लोगों की मै इतनी ख़ुशामद करता हूँ, वह मेरी तरफ आँख उठा कर भी नही देखती। मेरे पहुँचते ही वह किसी न किसी बहाने वहाँ से खिसक जाती है या कभी शर्म से सर झुका कर वही मूर्ति बन जाती है।

यदुनाथ—ओहो! यह तो आसार अच्छे हैं यार, इसमे अफसोस काहे का?

रमाकान्त—प्रेम मे कुमारियों की पहले-पहल यही हालत होती है भाई! क्यों भाई यदुनाथ?

यदुनाथ—बेशक! अरे म्याँ तुम अपनी तकदीर को धन्यवाद दो कि वह भी तुम्हे प्यार करने लगे।

ससारी—सच बताओ यार? आह! यही जो कही मुझे विश्वास हो जाता तो मै मारे खुशी के जमीन पर पैर न रखता।

यदुनाथ—अजी यह तो प्रेमियों का जन्म भर का रोना होता है। तुम इस चक्कर मे न पड़ो। जैसे अक़्-मन्द हो वैसे अक़्मन्दी से काम करो। उसकी शादी चटपट अपने साथ तय करा लो। नही मौका निकल जायगा तो रह जाओगे अपना सा मुँह लेकर।

संसारी—तो भाई क्या करूँ। अपने ऊपर जब पड़ती है, तब कुछ भी करते-धरते नहीं बन पड़ता। मुझे खुद ताज्जुब है कि मैं जो दूसरों को उँगलियों पर नचा सकता हूँ, इस मामले मे क्यों इतना बुद्धू सा हो रहा हूँ। जहाँ चपला का ध्यान आया, तहाँ मै अपनी परछाहीं तक से भड़कने लगता हूँ।

रमाकान्त—तुम्हारी ही नही, प्रेम मे सबकी यही हालत होती है भाई। फिर भी यह तो सोचो कि बिना हाथ चलाए मुँह मे कौर भी नहीं जाता। ख़ैर! अपने साहित्यानन्द से किसी दिन चपला की शादी का चर्चा छेड़ो। उसे ख़ुद ही इसके लिए परेशानी होगी।

संसारी—वह तो पत्र निकाल कर अब सम्पादक होने के चक्कर में हैं। इस खब्त के आगे ईश्वर जाने, उन्हे अपनी लड़की की शादी की कुछ फिक्र भी है या नहीं।

यदुनाथ—होगी कैसे नहीं? कौन ऐसा बाप है, जो लड़की पर जवानी चढ़ते ही उसकी शादी की फिक्र मे मरता न हो?

संसारी—अजी वह आदमी हों तब तो। वह तो एक ऐसे अजीब जीव हैं कि क्या कहूँ।

यदुनाथ—अरे यार! तो मुझसे क्यों नही एक दिन मुठभेड़ करा देते। मुझे तो ऐसे लोगों से मिलने मे बड़ा मज़ा आता है।

रमाकान्त—हाँ, है तो वह मिलने ही लायक। यह मैने भी सुना है। ऐसा आदमी पाकर भी जब तुम उसे अपने रङ्ग पर नहीं चढ़ा सकते, तब तुम क्या करोगे संसारीनाथ ?

संसारी—आखिर तुम लोग किस दिन के लिए हो। तुम्ही कुछ मेरी मदद करो।

यदुनाथ—तो अब तक कहा क्यों नही ? यह तुम्हारी ग़लती है। उधर क्या देख रहे हो ?

संसारी—( एक तरफ़ देखता हुआ ) अरे! वह तो इधर ही आ रहे हैं।

यदुनाथ—कौन ? साहित्यानन्द। यही है ?

रमाकान्त—( उसी तरफ़ देख कर ) हाँ-हाँ, यही हैं। मैं पहचानता हूँ। अरे! तुम कहाँ चले ?

संसारी—मुझे टल जाने दो। मेरे सामने उस मामले की बातचीत करना ठीक नहीं।

यदुनाथ—ठीक है या नही, यह मै जानता हूँ। तुम पहिले ज़रा मेरी जान-पहचान तो कराते जाओ।

ससारी—तुम अपनी जान-पहचान भाई ख़ुद कर लो। नही अगर वह इस बात पर कही बिगड़ बैठे तो सब मेरे मत्थे जायगी।

यदुनाथ—अच्छा यही सही। मगर तुम रुको तो। वह लो वह आगया।

( साहित्यानन्द अपनी पगडी बाँधता हुआ आता है और पगडी का बहुत बडा हिस्सा ज़मीन पर घसिटता हुआ जाता है )

यदुनाथ—( आगे बढ कर ) प्रणाम !

साहित्यानन्द—प्रणा अयं !

( पगड़ी छोड कर दोनों हाथ प्रणाम करने के लिए जोडता है, वैसे ही सर की पगडी हाथ से छूट कर जमीन पर गिर पडती है। उसका एक सिरा उठा कर फिर बाँधना शुरू करता है। )

रमाकान्त—( आगे बढ कर ) मै भी प्रणाम करता हूँ।

( साहित्यानन्द प्रणाम करता है, पगडी फिर ज़मीन पर गिर पड़ती है )

साहित्यानन्द—( नङ्गे सर और पगडी ज़मीन पर ) तीसरा कौन है ? वह भी इसी वक्त—उहुँक—समय प्रणाम कर ले, तब मै अपनी पगड़ी उठाऊँ। नहीं फिर गिर पड़ेगी। रास्ते भर—उहुँक—मार्ग भर मारे प्रणामों के गिरती ही आई है।

संसारी—( सामने आकर ) मै हूँ संसारीनाथ। मै तो मकान ही पर सलाम कर आया था।

साहित्यानन्द—हाँ, ठीक है, ठीक है। ( पगड़ी उठा कर बाँधने लगता है। मगर एकाएक उसे छोड़ कर पर्दे की तरफ़) वह लो, फिर किसी ने प्रणाम किया।

( प्रणाम करता है और पगड़ी फिर गिरती है )

रमाकान्त—उधर आप किसे प्रणाम करते हैं ? वह तो मै सर खुजा रहा था, उसी की परछाही है।

साहित्यानन्द—हॉ ? वाह रे हम ! जब से हमने अपने को सम्पादक होना घोपित किया, तब से हमारा यह मान कि परछाहीं तक प्रणाम करने लगी ? क्यों न हो। अब मेरे अवश्य ही सकल मनोर्थ पूर्ण हो जाएँगे। ( कमर पर हाथ रख कर ) बार-बार पगड़ी उठाते-उठाते श्वास फूल गया। ( सॉस लेता है )।

यदुनाथ—( अलग मुस्करा कर ) भई वाह ! इसने तो अच्छी बानगी दिखाई। राम ! राम ! ऐसे लोग भी जब सम्पादक होने लगे, तब साहित्य का क्या कहना है। ( प्रकट ) संसारीनाथ, खड़े देखते क्या हो। देखो कितनी देर से ज़मीन पर पगड़ी पड़ी हुई है।

ससारी—अरे ! माफ करना, मै किसी और ही धुन मे था। ( लपक कर पगडी उठाता है और उसका एक सिरा साहित्यानन्द को देकर ) लीजिए, अब बेखटके बॉधिए। अब गिर नही सकती।

रमाकान्त—तुम्ही बॉध दोगे तो कौन सा बड़ा हाथ टूट जाएगा ?

ससारी—हॉ भई, गलती हुई। मै ही बॉधे देता हूँ।

( साहित्यानन्द के पीछे खडा होकर पीछे ही से उसके सर पर पगडी लपेटने लगता है )

साहित्यानन्द—क्या कहा, गलती हुई ?

संसारी—( लपेटता हुआ ) हाँ गलती हुई, जो अब तक...

साहित्यानन्द—नही जी, गलती नहीं—

संसारी—( लपेटता हुआ ) अच्छा भूल हुई।

साहित्यानन्द—यह भी नहीं। कहो अशुद्ध हुआ।

ससारी—अशुद्ध हुआ ? ( संसारीनाथ एकाएक पगडी छोड कर हँसता हुआ पीछे हटता और अपने मुँह में रूमाल ठूँसता है। )

रमाकान्त और यदुनाथ—वाह ! सम्पादक जी ! वाह ! सम्पादक जी !

साहित्यानन्द—अरे ! यह कैसा गड़बड-सड़बड़ बाँध दिया, यह तो खिसकती जाती है।

यदुनाथ—( साहित्यानन्द के सर से पगडी उतार कर ) हाँ, यह ढीली रह गई थी। आओ सब लोग मिल कर इसे बाँधे। सम्पादक लोग सबके लिए आदरणीय होते हैं, कुछ अकेले ससारीनाथ के लिए नही। उस पर आपकी बात-चीत तो देखो, कैसे महापुरुष हैं।

साहित्यानन्द—( गर्व से ऐंठ कर ) अवश्य ! अवश्य ! ( यदुनाथ से ) आप सच्चे गुण-ग्राहक हैं।

यदुनाथ—अच्छा आप पगडी के इस सिरे को अपनी खोपडी पर कस के दबाए कोल्हू की तरह बीच मे खड़े

रहिए और हम लोग दूसरे सिरे को लेकर आपके चारों ओर बैल की तरह चक्कर लगाएँ।

साहित्यानन्द—ओहो! मेरा इतना बड़ा सम्मान! आप सचमुच बड़े गुण-ग्राहक हैं।

यदुनाथ—आप इसी के योग्य हैं महाराज!

( साहित्यानन्द पगड़ी का एक सिरा अपनी खोपड़ी पर दबा कर खड़ा होता है और तीनों आदमी दूसरा सिरा पकड़ कर ताने हुए उसके चारों तरफ़ घूमते हैं। बीच-बीच में संसारीनाथ इस काम में हिचकिचाता है, मगर यदुनाथ इशारा से उसे दबा लेता है। )

साहित्यानन्द—अरे! अरे! खोपड़ी के साथ मेरा हाथ भी बँधा जाता है।

रमाकान्त—दूसरे हाथ का सहारा लेकर जल्दी से निकाल लिया कीजिए।

साहित्यानन्द—अरे! मेरी आँखे भी बँध गईं और मुँह भी बँधा जाता है।

यदुनाथ—कुछ परवाह नहीं, बाद को ठीक कर देंगे।

( पगड़ी साहित्यानन्द की खोपड़ी से लेकर गर्दन तक लिपटती जाती है। )

साहित्यानन्द—(पगड़ी के साथ ख़ुद भी चारों ओर घूमता हुआ ) अरे! बाप रे बाप! ठहरो-ठहरो! गर्दन में फाँसी लगी जाती है।

यदुनाथ—गर्दन नहीं महाराज, ग्रीवा कहिए। आप तो जल्दी मे साहित्य भी भूल जाते हैं। हाँ-हाँ, नाचिए मत। नहीं हम लोगों को और तेज़ दौड़ना पड़ेगा। ( दौड कर, चक्कर लगा कर ) बस-बस, थोड़ा और सब्र कीजिए। हो गया, यह लीजिए पगड़ी का आखिरी फेटा भी खोंस दिया गया।

( सब लोग अलग हो जाते है और साहित्यानन्द अन्धे की तरह हाथ फैलाये हुए भटकता है। )

साहित्यानन्द—अरे भाई, मेरी आँखे तो खोल दो।

यदुनाथ—जरा सुस्ता ले, बहुत थक गये है महाराज !

( संसारीनाथ साहित्यानन्द की आँखे खोलने के लिए बढता है, मगर रमाकान्त उसे रोकता है और उसे ज़बर्दस्ती अपने साथ घसीट ले जाता है। )

( रमाकान्त और संसारीनाथ का जाना )

साहित्यानन्द—( पगडी खोलने की कोशिश करता हुआ ) अरे ! यह कैसी पगड़ी है ? न सरकाये से सरकती है, न खोले खुलती है। अरे भई, सुस्ता चुके ?

( यदुनाथ आवाज़े बदल-बदल कर चिल्लाता और ज़मीन पर पैर पटकता है। )

यदुनाथ—( आवाज़ बदल-बदल कर ) अरे बाप रे ! बाप रे ! दङ्गा हो गया दङ्गा। मर गया ! मर गया ! हाय ! हाय ! यह लाठी लगी। हाय बाप ! यह छुरा लगा। भागो-भागो।

( साहित्यानन्द घबरा कर इधर-उधर अन्धे की तरह भटक-भटक कर गिरता है। )

साहित्यानन्द—अयँ ! यह क्या हुआ। हाय ! हाय ! किधर जायँ।

( रमाकान्त अपने साथ दो-चार आदमी लाता है और साहित्यानन्द को दिखलाता है। रमाकान्त और यदुनाथ आवाज़ बदल कर लड़ने वालों की तरह चिल्लाते हैं और सब चुपके-चुपके हँसते हैं। )

यदुनाथ और रमाकान्त—मारो-मारो, जाने न पाये। मार दो, खोपड़ी दो हो जाय। और कस-कस के। सब भाग गये ! अब इधर चलो।

( साहित्यानन्द मारे डर के इधर-उधर भागता है और पर्दे से कई बार टकराता है। )

साहित्यानन्द—हाय राम ! सब भाग गये। हम कैसे भागे ? अब क्या करे ? चलो यही बडी बात है कि मेरे मुँह और खोपड़ी पर पगडी बधी है, नही तो मेरी भी खोपडी अब तक दो हो जाती। ( पर्दे से टकरा कर ) अरे बाप रे ! यह लाठी लगी ! हे परमात्मा ! हे परमेश्वर ! हे दीनानाथ !

रमाकान्त—( आवाज़ बदल कर ) यह कौन जानवर है ?

साहित्यानन्द—कौन हम ? हम जानवर नही, साहित्य के सपूत हैं।

यदुनाथ—( आवाज़ बदल कर ) ओहो, तभी अपने आँख-कान बन्द किये हुए हैं।

पहला दर्शक—असली है, असली है। यही तो असली होने की निशानी है कि आँख-कान पर सदा पर्दा पड़ा रहे।

( सब लोग फिर मारो-मारो का शोर मचाते है। इस दफे साहित्यानन्द भटकता-भटकता निकल भागता है। उसी के पीछे सब हँसते हुए जाते है। )

पट-परिवर्तन

---

## चौथा दृश्य

( साहित्यानन्द का मकान )

चपला—(मोज़ा बुनती हुई बीच-बीच में द्वार की ओर ताक कर ) इस वक्त तो वह पिता जी से मिलने रोज़ ही आते हैं, मगर अभी तक नही आये। ( द्वार की ओर देख कर ) शायद आ रहे हैं। ( रुक कर ) नही-नही, यह तो हवा का झोंका था। पिता जी बाहर गये हुए हैं। टेसुआ काम मे लगा हुआ है। जो कहीं आ जाते तो मै ही द्वार खोलती और एक दफे नज़दीक से ... आह! संसारीनाथ, न जाने तुमने मुझ पर क्या कर दिया है कि तुम्हे आँख भर के देखना तो अलग रहा, तुम्हे सामने पाते ही यह निगोड़ी

पलके नही उठती। क्या करूँ ? ( द्वार की ओर ताक कर ) बड़ी देर हो गई। क्या न आयेगे ? सुबह तो पिता जी से मिल ही चुके हैं। शायद न आये। ( ख़ुशी से चौक कर ) वह द्वार खटका। आ गए ! ( द्वार की ओर बढ़ कर जाती है ) नही-नहीं, मुझसे द्वार न खोला जायगा। हाय ! राम ! क्या करूँ ? अरे टेसू ! ओ टेसू !

( एक छोकरे का आना )

टेसू—क्या है चपला बीबी ?

चपला—( ख़ुशी, लज्जा और घबराहट के साथ ) अरे ! देख-देख, कोई बाहर आया है। ( मुँह फेर कर मोज़ा बुनती हुई धीरे-धीरे भीतर की ओर जाने लगती है। )

( टेसू द्वार की ओर जाता है। )

चपला—( अलग ) हाय ! मुझसे अब तो यहाँ खड़ा भी नही हुआ जाता।

टेसू—( पलट कर ) कोई तो नही है बीबी ! कुत्ता था।

चपला—( एकाएक मुरझा कर ) कुत्ता था।

टेसू—( जाता हुआ, घूम कर ) अरे ! दरवाज़ा बन्द करना तो भूल ही गया।

चपला—रहने दे, मै बन्द कर दूँगी। जा काम देख।

( टेसू जाता है। चपला द्वार से उल्टी तरफ मुँह किये मोज़ा बुनती हुई सोच मे खडी रहती है। द्वार की ओर से चुपके-चुपके ससारीनाथ आता है )

संसारी—(ख़ुशी मे चौंक कर अलग) धन्य भाग ! आज आते ही दर्शन मिला। और—और यहाँ पर दूसरा कोई भी नहीं। मगर आह ! कहूँ क्या ? ( सर पीट कर ) तमाम सोची हुई बाते तो इनको देखते ही दिमाग़ से उड़ गई। क्या करूँ ? पैरों से लिपट जाऊँ कि कलेजे से लगा लूँ ? मुँह चूमूँ कि चाँद-सा मुखड़ा देखूँ ? प्यार करूँ कि दिल का दुखड़ा रोऊँ ? क्या करूँ, क्या न करूँ, कुछ समझ मे नही आता।

चपला—( संसारीनाथ को बिना देखे हुए ) उफ़ ! अब तक नहीं आये।

संसारी—कौन ?

चपला—( घूम कर देखती है और ख़ुशी से चिहुँक उठती है ) अरे ! कौन ? आप ? ( झट से मुँह फेरकर भागना चाहती है। )

संसारी—हाँ, मै ही हूँ। मगर आप कहाँ चलीं ? ज़रा सुनिये तो !

चपला—( रुक कर, मुँह फेरे, सर झुकाये, मोज़ा बुनती हुई ) कहिये !

संसारी—क्या ? नहीं, हाँ, आपके पिता जी से मिलने आया था।

चपला—( कुछ रन्जीदा होकर ) उन्हीं से ? ( सामने होकर गम्भीरता से ) अच्छा तो बैठक मे चल कर बैठिये।

( जाना चाहती है )

ससारी—ठहरिये, ज़रा ठहरिये तो। बात तो सुनिये।

चपला—( ताने के ढङ्ग पर ) जब काम पिता जी से है, तब आप मुझे क्यों रोकते हैं? मिलने उनसे आये और बात मैं सुनूँ? जी रहने दीजिए। मुझसे मतलब, गरज, वास्ता?

ससारीनाथ—( चकरा कर ) अरे! हाँ, अगर किसी को आप ही से मतलब हो?

चपला—मगर आपको तो पिता जी से है। आप अपनी कहिये। दूसरो के फेर मे क्यों पडते है?

ससारीनाथ—अगर कोई सुने तो अपनी कहूँ भी।

चपला—( ताने मे ) कोई अपना हो तो उसकी कोई सुने भी।

ससारी—( आवेश में बढ़ कर ) आह! चपला, यह क्या कहती हो। मै अपना नही तो क्या बेगाना हूँ?

चपला—इसको आप जाने या पिता जी, जिनसे मिलने आप आते हैं।

ससारी—और तुम नही जानतीं? क्यों? ( मोज़ा पकड कर ) जरा आँख उठा कर बोलो।

चपला—( सटपटा कर पिछड़ती हुई ) पिता जी घर पर नही हैं।

ससारी—जानता हूँ, क्योंकि अभी-अभी उनसे बाज़ार मे मुठभेड हो चुकी है। तभी तो मौका देख कर मै . ...

चपला—( मोज़ा संसारीनाथ के हाथ से खींचती हुई ) हाँ-हाँ, सूइयाँ चुभ जाएँगी। छोड़ दीजिये।

ससारी—अच्छा। जरा एक दफा इधर देख तो लो।

चपला—( झुँझला कर मोज़ा छोडती हुई ) अरे! अरे! जाइए आपने मेरे बीने हुए जाल सब बिगाड दिये।

ससारीनाथ—नाराज़ न हो। लो।

चपला—अब तो बिगड़ गया। क्या करूँ उसे लेकर ?

संसारी—इतनी सी बात के लिए इतनी नाराज़गी ?

चपला—( कनखियों से देख कर मुस्कराती हुई ) तब कितनी सी बात के लिए होनी चाहिए ?

ससारी—( आवेश में ) आह! कम से कम इतनी तो हो। ( झपट कर आलिङ्गन करता हुआ ) अरी मेरी चपला प्यारी!

( उसके दोनों गालों को बडे ज़ोरों से चुचकार की आवाज़ करता हुआ चटाख़-चटाख़ चूमता है, वैसे ही साहित्यानन्द अपने मुँह पर पगडी लपेटे हुए, अन्धे की तरह हाथ फैलाए द्वार की ओर से आता है। चपला झुँझला कर भाग खडी होती है। संसारीनाथ उसी ओर ललचाई नज़रों से देखता रहता है। )

साहित्यानन्द—यह कौन मूर्ख मुझे चुचकार-चुचकार

कर बुला रहा है। मैं कुकुरानन्द थोड़े ही हूँ। मैं हूँ साहित्यानन्द।

ससारी—( साहित्यानन्द को देख कर—अलग ) हाय गजब ! यह क्या ? सर मुँड़ाते ही ओले पड़े। यही बडी खैरियत हुई कि इसकी आँखों पर पट्टी अब तक बँधी हुई है।

( चुपके से द्वार की ओर भाग जाता है )

( भीतर की तरफ से सरला आती है। )

सरला—क्या हुआ क्या, जो चपला यहाँ से इतनी बदहवास गई है। ( साहित्यानन्द को देख कर ) अरे ! यह क्या ? यह कौन घर मे घुस आया।

( पलट जाती है )

साहित्यानन्द—( इधर-उधर टटोलता हुआ ) क्यों भाई, पुच-पुच ही करना जानते हो या बोलना भी ? बस चुचकार कर रह गए। अरे ! कोई बताओ, मै कहाँ निकल आया। ( टेसू एक बडा सा डण्डा लाकर साहित्यानन्द को मारना शुरू करता है। ) "बाप रे बाप ! यह तो लूलू है। धत् ! धत् ! निकल यहाँ से।"

साहित्यानन्द—हाय ! हाय ! यहाँ भी दङ्गे वाले पहुँच गए। अब किधर भागूँ ?

( सरला का झाड़ू लिए आना )

सरला—मैं भी आ गई, डरना मत। मार-मार, अच्छी तरह मार।

( साहित्यानन्द पिटता हुआ द्वार के बाहर किया जाता है। )

पट-परिवर्तन

---

## पाँचवाँ दृश्य

---

स्थान—रास्ता

( साहित्यानन्द का क्रोध में बडबडाते हुए आना )

साहित्यानन्द—मूर्खा है, दुष्टा है, एकदम—उहुँक—सहसा ( पैर दो-तीन बार ज़मीन पर पटक कर ) पदाघात के योग्य है। ऐसी स्त्री का मुँह काला! नही-नही, मुख श्याम वर्ण! जो अपने प्राणनाथ को टेसुआ ऐसे अनुचर से पिटवा दे और स्वयं भी धोयँ-धोयँ डण्डा चलायमान करे। परमात्मा भला करे मेरी पगड़ी बाँधने वालों का, जिन्होंने अपने पाग-बन्धन कला-कौशल से मेरे मुण्ड को इतना सुरक्षित कर दिया था कि वह विदीर्ण होने से बच गया। फिर भी उस हत्यारिन ने नोच-खसोट कर पगड़ी खोल ही डाली। तभी तो उसकी बदमाशी, उहुँक—पाजी-पन—उहुँक-उहुँक—उद्दण्डता मुझे दृष्टिगोचर हुई। नही तो मै इसी भ्रम में रहता कि दङ्गेवाले ही यह घबड़धोयँ मचाये हुए हैं। और पूछने पर कहती क्या है कि तुम्ही तो

लूलू बन कर आये, मेरा क्या दोष? ( दाँत पीस कर ) झूठी कही की! नहीं-नही, मिथ्यावादिनी कही की। मै लूलू हूँ? जब आँख मूँदे मै अपना गृह जान सकता हूँ तब क्या वह मुझे नहीं पहिचान—उँहुक, बोध कर सकती थी? पशु भी मनुष्य को केवल सूँघ कर चीन्ह लेते हैं, परन्तु उसमे तो इतनी भी शक्ति, इतनी भी बुद्धि नहीं है। राम! राम! वह कदापि पत्नी होने योग्य नही है। ( इधर-उधर देख कर ) अरे! टेसुआ कहाँ गमन कर गया। घर से साथ चला और यहाँ तक आते-आते अन्तर्धान हो गया। उस दुष्ट ने मुझे लौट कर अन्वेषण करने का कष्ट दिया? अच्छा मिल जाय तो बताता हूँ।

( लौट जाता है )

( दूसरी तरफ़ से संसारीनाथ, यदुनाथ और रमाकान्त को झिडकता हुआ आता है। )

ससारी—चलो हटो, ऐसा भी कोई मसखरापन करता है? ऐन वक्त पर साहित्यानन्द को घेर-घार कर उनके घर में कर दिया।

यदुनाथ—भाई मुझे क्या मालूम था कि तुम उस वक्त अपनी चपला के साथ अन्दर नाटक कर रहे हो।

ससारी—बस-बस, रहने दो। मेरा बना-बनाया खेल का खेल बिगाड़ा और साहित्यानन्द के सामने जाने की मेरी हिम्मत तोड़ी अलग। तुम लोगों के इस बर्ताव से

वह मुझसे जरूर नाराज हो गये होंगे। क्योंकि उस वक्त तुम्हारे साथ मैं भी था।

रमाकान्त—इसकी फिक्र न करो। उनकी नस पहचान कर हम लोगों ने उसी वक्त उनकी ऐसी दवा कर दी है कि तुम एक नहीं, लाख बार उनके सामने जाओ, वह भड़क नहीं सकते। हाँ, उनके एकाएक फट पड़ने से जो तुम्हारा मजा किरकिरा हो गया, इसका अलबत्ता मुझे अफसोस है।

यदुनाथ—अफसोस काहे का? क्या फिर इन्हें वैसा मौका न मिलेगा?

मसारी—आह! मौका लेकर मैं क्या करूँ, जब चपला के सामने मेरे मुँह से बोल ही नहीं फूटता। वह तो न जाने कैसे मुझमें उस वक्त इतनी हिम्मत आ गई थी कि उसे 'प्यारी' कहकर कलेजे से लगा लिया और झट मुँह चूम लिया। यों मुद्दतों से मेरा दिल प्यारी-प्यारी का रट लगाये रहा, मगर सच जानो कि सैकड़ों कोशिशें करने पर भी यह कम्बख्त जबान उसके मुँह के सामने उसे कभी प्यारी न कह सकी। इसीलिए तो उस मौके के खराब हो जाने पर मुझे इतना अफसोस है।

यदुनाथ—( हँस कर ) अहाहाहा! प्यारी-प्यारे वगैरह तो दिल के शब्द हैं भाई, इनको जबान कहना क्या जाने? जब प्रेम के आलिङ्गन में एकाएक प्रेम का जोश भड़क

उठता है, तभी आवेश मे चुपके से कानों के पास ये शब्द मुँह से निकल पडते हैं। वैसे तो दिल ही दिल में रहना जानते हैं और निकलते भी हैं तो बस एकान्त मे या खतों मे।

रमाकान्त—वाह उस्ताद! मान गया। तुमने बडी गहरी बात बताई। बहुत सच है। मगर अफसोस तो यह है कि हमारे औपन्यासिकों के हाथ मे ये टके पसेरी से भी बत्तर हो रहे हैं।

यदुनाथ—यह तो इसलिए कि यह लोग अनुभव को कोई चीज नहीं समझते। बस दूसरों ही के सहारे पर चलना जानते हैं। इसीलिए आँख मूँदे अङ्गरेजी के "Dear Darling" पर अपनी भाषा के "प्यारे-प्यारी" को अन्धाधुन्ध न्योछावर कर रहे हैं। दिल पर हाथ रख कर आँखे खोले, तब तो उन्हे मालूम हो कि है कहाँ "Dear Darling!" जिनको शिष्टाचार ने इतना मुर्दा बना दिया है कि उन्हे एक भावहीन बूढा पति भी अपनी खूसट बुढ़िया के लिए, अपने सामाजिक नियमानुसार सभों के सामने कहने को मजबूर है। दुश्मन तक के लिए Dear Sir इस्तेमाल ही होता है। और कहाँ हमारे प्रेम-रस मे डूबे हुए "प्यारी-प्यारे" ऐसे अनमोल शब्द। दोनों का मुकाबला कैसा?

ससारी—अजी भाड मे जाय तुम्हारी "Dear Darling", मुझे इनसे मतलब? किसी की जान जाय और किसी को लेक्चर की सूझे।

रमाकान्त—अरे यार, लेक्चर नहीं, बात पर बात निकल ही पडती है, इसके लिए कोई क्या करे ? औपन्यासिक चरित्रों की तरह कोई थोड़े ही बातें कर सकता है कि कहीं पर निशाने पर से बहकने न पायें ?

यदुनाथ—मैं देखता हूँ संसारीनाथ, कि ज्यों-ज्यों प्रेम तुम्हारे दिल में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों तुम्हारी अक्ल पर......

संसारी—पत्थर पड़ता जाता है। बस यही न ? अच्छा तो मेरी जान छोडो, मेरी दुम के पीछे क्यों पड़े हो ?

रमाकान्त—( मुस्करा कर ) क्या करें, तुम्हारी प्रेम-लीला सुनने में बडा मजा आता है।

संसारी—अपने सर पड़ती तो यह मजा-फजा सब भूल जाता। चले हैं दांत निकालने। हुँ हुँ !

( चिढ़ कर जाना चाहता है )

यदुनाथ—वाह ! वाह ! क्या दिल के साथ आदमियत भी खो बैठे ? ( संसारीनाथ का हाथ पकड़ कर ) अजब आदमी हो। तुम तो प्रेम में पड कर ऐसे बदलते जाते हो कि कुछ कहा नहीं जाता। ठहरो-ठहरो, जरा दम ले लो। वह देखो, तुम्हारे साहित्य के सपूत आ रहे हैं।

संसारी—( अब दूसरी तरफ जाने का उद्योग करता हुआ ) नहीं, मुझे जाने दो। हाथ जोडता हूँ।

यदुनाथ—क्यों ? क्यों ?

ससारी—तुम लोग फिर कुछ न कुछ बेहूदापन करोगे।

यदुनाथ—नही-नहीं, तुम्हारे मतलब की बाते करूँगा। वह लो, वह पहुँच गये।

( साहित्यानन्द आकर फिर पीछे की तरफ़ घूम कर देखता है। और यदुनाथ अपनी जेब से रूमाल निकाल कर झट अपने सर मे पट्टी बाँधता है। )

साहित्यानन्द—( पीछे देखता हुआ ) कहीं पता नही। न जाने किधर विचर गया। ( घूम कर सामने देखता हुआ ) कौन ? संसारीनाथ ?

ससारीनाथ—( घबडा कर ) ज-ज-जी। प-प प्रणाम।

साहित्यानन्द—कहो, तुम्हारे वे दोनों मित्र दङ्गे मे मारे गये या बचे ? ये लोग कौन हैं ? आहा ! आप ही लोगों को पूछ रहा था। आप दोनो तो अभी जीवित प्रतीत होते हैं।

यदुनाथ—यही सोच तो हम लोगों को भी आपके बारे मे थी। और मुझे तो अब भी विश्वास नही होता कि आप आप ही हैं। सच बताइए, आप मरे तो नहीं।

साहित्यानन्द—नही-नहीं, मै तो अपनी पगड़ी की कृपा से साफ़—उहुँक—प्रत्यक्ष बच गया। उन दुष्टों को पता ही नही चला कि उसके भीतर मेरा मुखारविन्द किधर है और मुण्ड किधर है। परन्तु आप तो मानो चोट खा गये।

संसारी—( अलग ) भई वाह, अच्छी पट्टी पढ़ा रक्खी है। चलो जान में जान तो आई।

यदुनाथ—( अपने सर पर हाथ रख कर ) जी हाँ, आप ही के बचाने की कोशिश मे।

संसारीनाथ—कोशिश नहीं, चेष्टा कहिए।

यदुनाथ—बहुत ठीक कहा साहित्य-निधान! धन्य हैं आप, कि आपको साहित्य का सदा ध्यान तो बना रहता है। भला ऐसे जीव इस हिन्दी-संसार मे कहाँ? ईश्वर आपको आपकी बुद्धि समेत चिरायु करे। देखो जी रमाकान्त, तुम भी और संसारीनाथ, तुम भी आपसे सर्वदा साहित्यिक भाषा मे वार्तालाप किया करो।

साहित्यानन्द—( बीच ही मे सर हिला कर ) हाँ-हाँ, जैसी पुस्तकों मे लिखी होती है। यही तो सब से कहा करता हूँ।

यदुनाथ—क्योंकि आप साहित्य के... .

साहित्यानन्द—साहित्य के, हाँ कहो-कहो!

यदुनाथ—भतीजे हैं।

साहित्यानन्द—अरे! भतीजे नहीं, सपूत।

यदुनाथ—वही बात हुई, देखिए अब तो मै आपके विचारानुकूल शुद्ध बोलने लगा न?

साहित्यानन्द—हाँ, थोड़ा-बहुत—नहीं-नहीं—किञ्चित् महान्। परन्तु अभी आपको अभ्यास की आवश्यकता है।

रमाकान्त—( मुस्करा कर ) किञ्चित् महान्?

यदुनाथ—ख़ैर—नही नहीं नहीं नही—क्या नाम के हाँ, अस्तु। अस्तु, जब विना अभ्यास के किञ्चित-किञ्चित शुद्ध बोलने लगा तो कुछ दिवस पर्यन्त मैं अवश्य ही महान्-महान् शुद्ध बोलने लगूँगा।

साहित्यानन्द—ओहोहो। इस बार तो आप अत्यन्त ही स्वच्छ भाषा बोल गये। आप बड़े तीक्ष्ण बुद्धि वाले हैं। शीघ्र ही उन्नति कर जायँगे। ( रमाकान्त से ) आप क्यों मौन हैं, आप भी तो कुछ बोलिए। यदि आप सब लोग इसी प्रकार बोलने लगे तो फिर क्या कहना है।

यदुनाथ—जी हाँ, तब पुस्तके पढ़ने की कोई आवश्यकता न रह जायगी।

साहित्यानन्द—निस्सन्देह। इसे तो मैंने सोचा ही नही था। वाह! वाह! आम के आम और गुठली के मूल्य। ( रमाकान्त से ) कहो भाई—उहुँक—भ्राता, हाँ-हाँ, कहो भ्राता, है न ?

रमाकान्त—मैं सोच रहा हूँ, आप इतने उदास क्यों प्रतीत होते हैं।

यदुनाथ—यह मुझसे पूछो, चिन्ता के मारे।

साहित्यानन्द—( ठण्डी साँस लेकर ) हाँ, चिन्ता तो आजकल सचमुच नाक मे दम—उहुँक, नासिका मे श्वास किये हुए है।

यदुनाथ—वाह! वाह! नासिका मे श्वास

( साहित्यानन्द के पैर छूकर ) धन्य हैं आप । बलिहारी है ! आप साहित्य के सपूत ही नहीं, वरन् नाती-परनाती सब कुछ है ।

रमाकान्त— ( मुँह छिपा कर अपनी हँसी रोकता हुआ ) मैं तो समझा नासिका मे बाँस कह रहे हैं । अस्तु, चिन्ता किस बात की ?

यदुनाथ—अजी इतना भी नही जानते कि आप बाल-बच्चे वाले हैं, आपको चिन्ता न होगी तब क्या पेड़-पालों को होगी ।

साहित्यानन्द—बस-बस-बस-बस, यही बात—वार्ता, हाँ यही वार्ता है । मैं बाल-बच्चे वाला हूँ, यही चिन्ता है । ( यदुनाथ से ) आप तो मानो अन्तर्यामी हैं ।

यदुनाथ—हाँ, कुछ ज्योतिष भी जानता हूँ इसीलिए । आपके कोई लड़का तो है नहीं, केवल एक सज्ञान पुत्री है, वह भी कुँवारी ?

साहित्यानन्द—और स्त्री भी तो है ।

यदुनाथ—हाँ-हाँ !

साहित्यानन्द—इसीलिए तो चिन्ता इतना व्याकुल किये हुए है ।

यदुनाथ—क्यों नही ।

साहित्यानन्द—यदि मेरा विवाह न हुआ होता, तो इस समय फिर क्या पूछना था ।

यदुनाथ—और क्या तब यह झञ्झट सिर पर पड़ती ही क्यों ? न पेड़ होता न पत्ते गिनने पडते।

साहित्यानन्द—बिल्कुल सच है—उहुँक—सम्पूर्ण सत्य है। तब इस समय सचमुच चिन्ता-फिन्ता कुछ भी न होती।

रमाकान्त—मै समझ गया, आपको आजकल विवाह की चिन्ता घेरे हुए है।

साहित्यानन्द—( चौक कर ) अरे ! आपने कैसे जाना ? बस-बस, इसी चिन्ता मे तो मरा जाता हूँ।

यदुनाथ—अच्छा तो अब आपको अधिक मरने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर चाहेगा तो हम लोग आपका बेडा पार लगा देंगे।

( रमाकान्त और संसारीनाथ इशारों मे खुशी-खुशी बातें करते है )

रमाकान्त—जी हाँ, यह कौन सी बडी बात है।

साहित्यानन्द—अहोभाग्य ! अहोभाग्य ! यदि आप लोग किसी उचित व्यक्ति से सम्बन्ध लगा सके, तो बडा उपकार हो।

( ससारीनाथ, यदुनाथ और रमाकान्त को चुपके से खोद कर इशारा करता है। )

यदुनाथ—सम्बन्ध लगा ही समझिए।

साहित्यानन्द—सचमुच ? परन्तु मै साहित्यिक व्यक्ति चाहता हूँ, जिसे साहित्य मे अच्छा ज्ञान हो और साहित्य ही मे बराबर—उहुँक—क्रमश: वार्तालाप कर सके।

( रमाकान्त संसारीनाथ की ओर देखता है और संसारीनाथ सर हिला कर कुछ हामी भरता है ।)

रमाकान्त—वैसा ही व्यक्ति लीजिए, बिलकुल वैसा ही । साढे तीन घण्टे तक लगातार—उहुँक, क्या कहा था आपने, क्रमशः—हाँ, क्रमशः साहित्य ही साहित्य बोले तब बात है ।

साहित्यानन्द—हाँ ? और रूप-गुणों मे ?

यदुनाथ—उत्तम ।

साहित्यानन्द—चाल-ढाल ?

रमाकान्त—निष्कलङ्क ।

साहित्यानन्द—योग्यता ?

यदुनाथ—बढ़ी-चढ़ी ।

साहित्यानन्द—ओहो! बहुत ही आनन्द है! भला क्या उसे भी यह सम्बन्ध पसन्द—उहुँक—अँ—अँ ( पॉकेट से डिक्शनरी निकाल कर) हाँ, रुचिकर—रुचिकर होगा ?

रमाकान्त—सर-आँखों से ।

यदुनाथ—होना ही चाहिए । क्योंकि प्रेम ने तो उसको पहिले ही मुग्ध कर रक्खा है ।

साहित्यानन्द—हाँ ? वाह ! वाह ! और मुझे अभी तक इस बात की कुछ खबर भी नहीं—उहुँक—समाचार भी नहीं ।

यदुनाथ—बस, अब आज्ञा हो तो मै आपकी ओर से बातचीत पक्की कर लूँ।

साहित्यानन्द—परन्तु मै भी तनिक देख-भाल—उहुँक—निरीक्षण करके उसकी परीक्षा तो कर लेना चाहता हूँ।

यदुनाथ—देखने को आप उसको सैकडो बार देख चुके हैं।

रमाकान्त—और इस समय भी देख रहे हैं।

साहित्यानन्द—( चारों तरफ देखता हुआ ) नही तो। कहाँ ?

रमाकान्त—(संसारीनाथ को सामने करके) यह लीजिए, जी भर के देख लीजिए।

साहित्यानन्द—अरे ! यह तो ससारीनाथ है।

यदुनाथ—जी हाँ, यही हैं।

ससारी—हाँ, मै ही आपकी पुत्री को प्यार करता हूँ और उससे विवाह करना चाहता हूँ।

साहित्यानन्द—अरे ! यह क्या ? मै तो अपने पुनर्विवाह के बारे मे बातचीत कर रहा हूँ। और यह बदमाश बीच मे कूद कर कहता है कि मै आपकी पुत्री को प्यार करता हूँ। मेरे ही मुँह पर ऐसी धृष्टता ? खड़ा तो रह, पाजी कही का। मै नहीं जानता था कि यह ऐसा लुङ्गाडा है। तेरी ऐसी-तैसी।

( संसारीनाथ भाग जाता है। साहित्यानन्द उसको मारने के लिए उसके पीछे दौड़ जाता है। रमाकान्त और यदुनाथ पहिले आश्चर्य मे मूर्तिवत् हो जाते हैं, उसके बाद एकाएक हँस पड़ते है। )

यदुनाथ—( हँसता हुआ ) आहाहाहा ! भाई वाह ! यह तो अच्छा तमाशा हुआ।

( दोनों हँसते हुए जाते है )

**प्रथम अङ्क समाप्त**

---

# दूसरा अङ्क

## पहला दृश्य

[ स्थान—साहित्यानन्द का सम्पादकीय कमरा ]

[ मेज़ और फ़र्श पर काग़ज़ों और अखबारों का ढेर लगा है। दो-चार टूटी हुई कुर्सियाँ रक्खी हैं। साहित्यानन्द सामने सादा काग़ज़, कलम-दावात और कुछ पैकेट रक्खे ज़मीन पर पलथी मारे बैठा हुआ हँस रहा है। ]

साहित्यानन्द—( आप ही आप ) आहाहाहाहा ! आहाहाहा ! ओहोहोहो ! हीहीहीही ! ऊहूहूहूहू !

( टेसू का एक लेई की प्याली लिए आना )

टेसू—लीजिए सरकार लेई तैयार हो गई। पैकेट चिपकाइए। अरे ! आप तो हँस रहे हैं !

साहित्यानन्द—( हाथ के इशारे से टेसू को मना करता हुआ फिर हँसता है ) आहाहाहाहा ! हाहाहाहा ! हीहीही.

टेसू—अरे ! यह क्या ? सुनिए तो, इसे यहाँ रख दूँ ?

साहित्यानन्द—चुप रह ! ( फिर हँसता है ) आहा-हाहा ! हीहीही......

टेसू—( लेई रख कर खड़ा तमाशा देखता हुआ, आप ही आप ) वाह ! वाह ! अरे ! सरकार, वह देखिए, वह लेई रक्खी है।

साहित्यानन्द—( गुस्से मे उठ कर ) फिर नही मानता, जब देखो तब यह दुष्ट काम ही के समय विघ्न डालता है।

टेसू—( दूर भाग कर ) आप ही ने कहा था कि जल्दी से लेई बना ला। डेढ़ सौ पैकेट चिपकाना है।

साहित्यानन्द—मगर यह मैंने कब कहा था कि जब मुझे काम मे देखना तभी फट पड़ना। अरे ! 'परन्तु' के स्थान पर 'मगर' कह गया। राम ! राम !

टेसू—आप काम कहाँ कर रहे थे। लेई थी नहीं, आप करते क्या ?

साहित्यानन्द—( झपटता हुआ ) क्या सम्पादकों का लेई चिपकाना ही काम होता है, उल्लू के पठ्ठे ? उहुँक उल्लूक-पुत्र ?

टेसू—( दूसरी तरफ भाग कर ) तब क्या सामने सादा काग़ज़ रक्खे झूठ-मूठ हीहीहीही करना भी कोई काम है ?

साहित्यानन्द—मैं झूठ-मूठ हीहीहीही कर रहा था ?

टेसू—तब क्या कर रहे थे ?

साहित्यानन्द—मै हास्य-टिप्पणी लिखने के लिए अपने हृदय मे हास्य-भाव का सञ्चार कर रहा था मूर्ख !

जिसे तूने आकर सब भ्रष्ट कर डाला। अब लिखूँ क्या अपना शीश ?

टेसू—क्या ? क्या ? क्या ?

साहित्यानन्द—( बैठता हुआ ) नही समझता तो अपनी ऐसी-तैसी से जा। चल हट, मुझे काम करने दे। धत तेरे की ! बना-बनाया सब व्यर्थ हो गया। मुझे हास्य-भाव अब फिर आरम्भ से उत्पन्न करना पड़ा। ( हँसने की कोशिश करता हुआ ) आहा ! आ ! आ ! अररररर ! अब तो हँसी लुप्त हो गई। आती ही नही। आ —आ—आ—

टेसू—( पास आकर ) लीजिए आ गया सरकार, कहिए !

साहित्यानन्द—( चिढ कर ) अबे तुझे किसने बुलाया, जो आकर खोपड़ी पर सवार हो गया ? उहुँक—उहुँक—मुण्ड पर आरूढ़ हो गया।

टेसू—आप ही ने तो अभी कहा कि आ-आ-आ तब मै आया।

साहित्यानन्द—अबे गधे—उहुँक—गर्दभा, हॉ अबे गर्दभ, मै तुझे पुकार रहा था कि हँसने की चेष्टा कर रहा था ?

टेसू—आप आ-आ करके हँसना चाहते थे ?

साहित्यानन्द—निस्सन्देह। बस अब भाग यहॉ से। पलायन कर। मुझे काम करने दे।

टेसू—( नकल करता हुआ ) आ ! आ ! आ ! यह किस ढङ्ग की हँसी है ? ( हँसता हुआ ) अहाहाहाहा ! भला ऐसी भी कहीं हँसी होती है ? आहाहाहा ! आहा-हाहा ! बाप रे बाप ! दम फूल गया ।

साहित्यानन्द—अय ? अयँ ? यह क्या ? एक तो हमारी हँसी अटक गई और ऊपर से तू हँसता है ? खड़ा तो रह पाजी !

[ टेसू मेज़ और कुर्सियों के चारों तरफ भागता हुआ कभी उनके बीच से खड़ा हो जाता है, कभी बीच से निकल कर दूसरी तरफ़ भागता है । मगर साहित्यानन्द उसका पीछा करता हुआ सिर्फ चारों तरफ़ चक्कर लगाता है । ]

साहित्यानन्द—( दौड़ते-दौड़ते खड़ा होकर ) अबे रुक जा । ठहर जा । हाय ! हाय ! फिर नहीं सुनता । ( हाँफता है )

टेसू—( दौड़ता हुआ ) नहीं-नहीं, आप मारेंगे ।

साहित्यानन्द—( हाँफता हुआ ज़मीन पर बैठ कर ) मारता तो अवश्य, परन्तु—परन्तु—आह ! परन्तु यदि तू मेरी आज्ञा का पालन करे तो क्षमा कर दूँगा ।

टेसू—( दौड़ते-दौड़ते ठहर कर ) हाँ ? अच्छा कहिए, क्या हुकुम है ?

साहित्यानन्द—इधर आ ! आह ! नहीं मारूँगा बे । इधर आ ।

टेसू—( ज़रा दूर खड़ा होकर ) यह लीजिए। मगर मै समझ गया। आप यही कहेंगे कि बाहर का दरवाज़ा बन्द कर दो, ताकि कोई आपको लेई से चिपका-चिपका कर पैकेट बनाते देख न ले। इसके लिए आप न घबड़ाइए, उसे मैंने पहले ही से बन्द कर रक्खा है।

साहित्यानन्द—नही बे—

टेसू—तब तो आप यह कहेंगे कि मुझे सम्पादक कहा करो।

साहित्यानन्द—नही-नही, इस समय यह बात नही है।

टेसू—हाँ-हाँ, अभी नही, दूसरों के सामने, जब आप कुर्सी पर बहुत सँभल कर बैठते है, क्योंकि उसकी एक टाँग टूटी हुई है।

साहित्यानन्द—आह ! नही।

टेसू—बस-बस, समझ गया। आप मुझे भी अपनी तरह अण्ड-बण्ड बोलना सिखायेंगे।

साहित्यानन्द—( चिढ़ कर ) फिर नही सुनता, बक-बक किये जा रहा है। मै कहता हूँ कि......

टेसू—जब संसारीनाथ अब कभी आये तो उसे डण्डे से मार भगाओ। यही न ? यह तो मै जानता हूँ।

साहित्यानन्द—तेरी ऐसी-तैसी ? सुअर, पाजी, बद-माश कही का।

टेसू—और दुष्ट कहना तो आप भूल ही गये।

साहित्यानन्द—अब जो बोलेगा तो मुँह मे कपड़ा ठूँस दूँगा। बस चुपचाप मुँह बन्द करके सुन, अन्यथा मारते-मारते...

टेसू—अच्छा अच्छा अच्छा, कहिए कहिए कहिए।

साहित्यानन्द—सुन। आजकल जनता की रुचि भ्रष्ट हो गई है और वह हास्य को भी साहित्य का अङ्ग मानने लगी है और कहती है कि इस रस मे भी कइ भेद हैं, अर्थात् व्यङ्ग, विनोद, हास्य, उपहास। इन सभों पर पत्र-पत्रिकाओं मे एक न एक लेख अवश्य होना चाहिए। अतएव हम सम्पादकगण अपने-अपने पत्रों मे हास्य की कुछ न कुछ सामग्री देने के लिए अब विवश हैं। परन्तु मुझे किसी भी हास्य-लेखक का पता नही मालूम—उहुँक, ज्ञात है। इसलिए इस अभाव की पूर्ति मुझे अपने पत्र मे स्वय अपनी लेखनी द्वारा करनी पड़ गई।

टेसू—आप कहते क्या हैं ?

साहित्यानन्द—फिर बीच मे बोला। अभी कहाँ कहता हूँ, अभी तो भूमिका बोल रहा हूँ।

टेसू—तभी समझ मे नही आती ! यह कोई नई बोली है क्या, कि जो बोले वही समझे, दूसरा नही ?

साहित्यानन्द—अबे भूमिका समझना ठट्टा नहीं होता, आद्योपान्त धैर्यपूर्वक सुनेगा तब समझ मे आयेगी कि वैसे ही। हाँ, क्या कह रहा था ?

टेसू—वही, जो समझ मे नही आती।

साहित्यानन्द—हाँ, इसी अभाव की पूर्ति करने के लिए मैं अपनी सम्पादकीय टिप्पणियाँ हास्यरस मे लिखने का प्रयत्न कर रहा था। यद्यपि हमारे ऐसे उच्चकोटि के साहित्यज्ञ को हास्य की ओर निरादर की दृष्टि से अवलोकना चाहिए, तथापि सम्पादक होने के कारण ग्राहकों के सन्तोषार्थ यह अधम कार्य करने के लिए मुझे विवश होना पड़ा। अस्तु।

टेसू—( साहित्यानन्द को अपनी बातों की धुन मे मस्त पाकर—अलग ) अब यह सत्यनारायण की कथा शुरू हुई। बस अब चुपके से खसक चलो।

[ टेसू आँख बचाकर चल देता है। ]

साहित्यानन्द—( उसी तरह ) किसी ने बताया कि विपरीत घटनाओं के समावेश से हास्य उत्पन्न होता है, तो किसी ने कहा कि उल्टे ढङ्ग से आशय लिखने मे शैली हास्यपूर्ण हो जाती है। परन्तु विपरीत घटना सोचते-सोचते मस्तिष्क मे पीडा होती है, तो मुँह उल्टा करके लिखने से ग्रीवा टूटने—उहुँक—भङ्ग होने लगती है। क्योंकि अभ्यास नही है। इसीलिए मैंने हास्य लिखने की यह नवीन और मौलिक युक्ति निकाली कि पहले पेट भर के हँस लो, ताकि जब पेट मे हँसी ठसाठस भर जाय तो वह लेखनी द्वारा आप ही आप अवश्य निकलेगी।

टेसू—(बाहर से झाँक कर अलग ) ओहो ! अभी रॉड का चरखा चल रहा है।

साहित्यानन्द—( उसी तरह ) परन्तु खेद ! खेद ! खेद ! तूने सब चौपट कर दिया। मेरे हास्य-भाव को विघ्न डाल कर खेद-भाव से परिवर्तन कर दिया। इस हानि का उत्तरदाता तू है, समझा ? ( इधर-उधर देख कर ) अरे ! कहाँ गया वे ?

टेसू—( बाहर से झाँकता हुआ ) कहिए-कहिए, मै सुन रहा हूँ।

साहित्यानन्द—वहाँ क्या करने गया ?

टेसू—आप कह चुके ?

साहित्यानन्द—लगभग। बस अब केवल उपसहार कहना और रह गया है। परन्तु तू वहाँ . ..

टेसू—उपसंहार ?

साहित्यानन्द—हाँ-हाँ उपसहार, जिसे कथा तथा वार्ता की दुम—उहुँक—पूँछ कहते है। परन्तु......

टेसू—अच्छा कुछ सही, लगे हाथों उसे भी उगल डालिए, जब तक मै खाना खा आऊँ।

साहित्यानन्द—क्या ? तू खाना खाने—उहुँक—भोजन भक्षने चला जायेगा तो मेरी हानि की पूर्ति कौन करेगा ? यही तो कहना रह गया था।

टेसू—बहुत भूख लगी है सरकार !

साहित्यानन्द—( उठ कर ) तेरे सरकार की ऐसी-तैसी। चल इधर! ( झपटता है। )

टेसू—( भाग कर दूसरी तरफ़ जाता है ) अच्छा कहिए, क्या करूँ।

साहित्यानन्द—पहिले इधर का द्वार तो वन्द कर लूँ तब बताता हूँ। नहीं तू पुनरपि ऊपर पलायन कर जायेगा। ( क्षण भर के लिए उधर जाकर लौट आता है ) हाँ, तूने मेरे अत्यन्त उद्योगपूर्ण सञ्चित हास्य-भाव को अपने आगमन से भ्रष्ट करके विलीन कर दिया है, अतएव मुझमे तुझे हास्य फिर से—उहुँक पुनः से—ऐ-ऐ—( अपने जेब की तरफ हाथ ले जाता हुआ ) हूँ, आविर्भूत करना पड़ेगा। समझा?

टेसू—हाँ।

साहित्यानन्द—क्या?

टेसू—यही अगड़म बगडम सगडम तगडम......

साहित्यानन्द—अबे यह क्या?

टेसू—वही जो आप कह रहे थे।

साहित्यानन्द—हरामजादा, बदमाश, सुअर का बच्चा कहीं का। मैं अगड़म-बगड़म कह रहा था? अरे! राम! राम! इस मूर्ख से वार्ता करना भाषा का अपभ्रंश करना है। अबे मै कहता हूँ कि तूने मेरी हँसी बिगाड़ी है, इसलिए तुझे मुझको हँसाना पड़ेगा!

टेसू—रहने दीजिए, आप तकलीफ न कीजिए, मुझे आप ही आहाहाहा—आपकी बात पर—आहाहाहा ! हँसी आ रही है।

साहित्यानन्द—अबे तू मुझको हँसा। फिर नही सुनता? अपने ही हँस रहा है। मुझको नहीं हँसाता। गदहा कही का (तमाचा उठाता है)।

टेसू—हाँ-हाँ, मारिए मत। नही मेरी भी हँसी आहा-हाहा—भड़क जायगी। हाथ जोड़ता हूँ, ज़रा हँस लेने दीजिए—आहाहाहा—

साहित्यानन्द—अच्छा। तो मुझको भी हँसाता, जा, नहीं तो मारता हूँ चपत।

टेसू—क्या मैं आपको हँसाऊँ?

साहित्यानन्द—हाँ, क्योंकि मुझे हास्य-टिप्पणी लिखना है, तुझे नही।

टेसू—तो आप हँसते। क्यों नहीं?

साहित्यानन्द—जब तू हँसायेगा तब तो हँसूँगा।

टेसू—मैं कैसे हँसाऊँ?

साहित्यानन्द—यह मै नही जानता। चाहे जैसे हो तुझे हँसाना पड़ेगा, अन्यथा तेरा अपराध क्षमा नही हो सकता।

टेसू—यह बड़ी मुश्किल है। रुलाना कहिए तो अभी यह कह कर कि आपका कोई मर गया है, रुला दूँ; गुस्सा

दिलाने को कहें तो ऐसी गाली दूँ कि आप अगिया वैताल हो जायँ। क्योंकि यह सब तो आसान मालूम होते हैं, मगर हँसाना बड़ी टेढ़ी खीर है। समझ में नही..

साहित्यानन्द—अबे चुप चुप चुप चुप चुप—चुप !

टेसू—मगर क्यों क्यों क्यों क्यों क्यों क्यों—क्यों ?

साहित्यानन्द—एक तो कुछ अनाड़ियों ने हास्य को साहित्य मे स्थान देकर साहित्य की दुर्दशा योंही कर डाली है, उस पर तेरी यह वार्ता वह जो कही सुन लेगे, तो हास्य को साहित्य का सबसे कठिन अङ्ग मान बैठेगे। समझा ?

टेसू—जी हाँ, कठिन है। अब मै रोटी न खा आऊँ ?

साहित्यानन्द—तेरी ऐसी-तैसी। मै कहता क्या हूँ और कम्बख्त—उहुँक दुष्ट—समझता क्या है ? बचा, विना मुझे हँसाये तू यहाँ से गमन नही कर सकता।

टेसू—तो मै हँसाऊँ कैसे ? क्या आप बच्चा हैं कि लू लू लू लू करके हँसा दूँ ?

साहित्यानन्द—अबे तो थोड़ी देर—उहुँक विलम्ब—के लिए वही समझ ले। हँसा तो किसी प्रकार से।

टेसू—तो फिर हँसिए। हँसो मुन्ना, हँसो मुन्ना, लू लू लू लू। ( ताली बजा कर कभी मुँह बिचकाता और कभी चोंच दिखाता है ) ऊ—ऊ—ऊ—ऊ—

साहित्यानन्द—( एकाएक गुस्से मे आकर ) आयँ ?

आयँ ? यह क्या ? तू मुझे मुँह बिचकाता है। सुअर का बच्चा—उहुँक सुअर का शिशु—कहीं का ? मारते-मारते मुख अपभ्रंश कर दूँगा। इसीसे मैं अपने नातेदारों को कभी नौकर नही रखता था। साले भिखमङ्गे बन कर आते हैं और काम करने को कहो तो मुँह बिचकाते हैं। तेरी ऐसी-तैसी करूँ।

टेसू—अरे ! आप ही ने तो कहा था कि मुझे किसी तरह से हँसाओ, तब मै ( मुँह बिचका कर और चोंच दिखा कर ) इस तरह हँसा रहा था।

साहित्यानन्द—इस तरह—उहुँक इस प्रकार—हँसाया जाता है, उल्लू के पट्ठे ?

टेसू—तब किस तरह हँसाऊँ ! आप ही बताइए।

साहित्यानन्द—कोई हँसी की बात कहकर हँसाओ।

टेसू—अच्छा।

साहित्यानन्द—अब ताकता—उहुँक अवलोकता—क्या है। कहता क्यों नही ?

टेसू—अच्छा कहता हूँ। आप हँसने के लिए बिल्कुल तैयार हो जाइए।

साहित्यानन्द— यह ले ( हँसने की तैयारी में मुँह खोल कर आ-आ करता है ) आ—आ—हा—

टेसू—वाह ! वाह ! ( एकाएक हँस पड़ता है ) आहा हाहाहा ! आहाहाहाहा ! उफ ओ !

साहित्यानन्द—अरे ! तू फिर हँसने लगा ?

टेसू—कहता हूँ, कहता हूँ। सब्र कीजिए। जरा हँसी रुक ज—ज जाय। आहाहाहा ! ( हँसता है )

साहित्यानन्द—अच्छा, हँसता है तो हँस डाल। परन्तु धीरे-धीरे, जरा—उँहुक—तनिक रुक-रुक कर, ताकि मै भी देख कर अनुकरण कर सकूँ। ( नक़ल करने की कोशिश करता हुआ ) आहा-आ—कैसे ? अबे इतनी शीघ्रता से नही। खण्ड-खण्ड करके हँस। फिर नही सुनता ?

टेसू—आहाहाहा ! बाप रे बाप, दम फूल गया।

साहित्यानन्द—हँस चुका ? अच्छा तो अब मेरे हँसने के लिए हास्य-वार्ता कह।

टेसू—कहता हूँ। हाँ, आपका—मगर मेहरबानी करके इस तरह मुँह फैला कर मुझे न घूरिए, नहीं फिर हँसी आ जायगी। ऊपर ताकिए ऊपर—मेरी तरफ नहीं। हाँ, अब ठीक है। अच्छा कहता हूँ।

साहित्यानन्द—हास्य-वार्ता है न ?

टेसू—बिल्कुल।

साहित्यानन्द—शुद्ध हास्यरस की ?

टेसू—शुद-पुद आप जानिए। मैं कहता हूँ। बस अब हँसने के लिए तैयार हो जाइए। हाँ, आसमान की ओर देखिए।

साहित्यानन्द—तैयार हो गया।

टेसू—सुनिए। आपका मुँह...

साहित्यानन्द—( ऊपर मुँह उठाये हुए ) अच्छा ?

टेसू—बिल्कुल...

साहित्यानन्द—अच्छा। परन्तु हँसी नहीं आई।

टेसू—घबडाइए नही, अब आती ही है। हाँ, आपका मुँह बिल्कुल...

साहित्यानन्द—( मुँह ऊपर किये हुए ) आगे कह आगे। मै हँसने के लिए मुँह फैलाये तैयार हूँ !

टेसू—बनबिलाव सा है।

साहित्यानन्द—अबे मेरा मुँह ?

टेसू—हाँ-हाँ, आप ही का।

साहित्यानन्द—( गुस्से में मारने को झपटता हुआ ) तेरी ऐसी-तैसी, सूअर का बच्चा कहीं का, तुझे मै कच्चा चबा जाऊँ।

टेसू—( पिछडता हुआ ) झूठ नही सच। आप खुद देख लीजिए।

साहित्यानन्द—अच्छा दिखा पाजी। न हुआ तो बताता हूँ।

टेसू—हाँ-हाँ, देख लीजिए। मै झूठ थोडे ही कहता हूँ। यहाँ से देखिए जहाँ मै हूँ।

साहित्यानन्द—( जहाँ टेसू खड़ा था वहाँ जाकर ) कहाँ है मेरा मुँह बनबिलाव सा ? दिखला।

टेसू—अब दिखलाऊँ कैसे ? आप तो अपने साथ अपने मुँह को भी लेते आये। अच्छा अब इधर आकर देखिए, और ईमान-धरम से आप ही कहिए कि है न बनबिलाव सा। मगर हाँ, यह क्या ? अपना मुँह वहीं छोड कर आइए, तब दिखलाई पड़ेगा।

साहित्यानन्द—अबे यह कैसे हो सकता है ?

टेसू—तब मेरी बात मान लीजिए।

साहित्यानन्द—( झपटता हुआ ) परन्तु प्रथम तुझे भली-भाँति ताड़न कर लूँ, तब सत्य-असत्य का निर्णय होगा। खड़ा तो रह दुष्ट, नराधम, पिशाच, चाण्डाल इत्यादि-इत्यादि।

टेसू—( भागता हुआ ) हाँ-हाँ, इस तरह मुझ पर न झपटिए, नहीं तो आपको हँसाने के लिए जो अभी-अभी एक बढ़िया तरकीब सोची है, उसे भूल जाऊँगा।

साहित्यानन्द—( रुक कर ) हाँ ? अच्छा वह क्या है, शीघ्र बता।

टेसू—आप उधर मुँह करके खड़े होइए।

साहित्यानन्द—यह ले।

[ टेसू पीछे से साहित्यानन्द की कमर गुदगुदाता है और साहित्यानन्द एकाएक बड़े ज़ोरों से हँस पड़ता है। ]

साहित्यानन्द—आहाहाहाहा ! आहाहाहा ! यह युक्ति नि-नि-निसन्देह अनुपम है। आहाहा ! मेरा हास्य-भण्डार खु-खु-खुल गया। आहाहाहा ! अरे बस-बस-बस-बस। अहाहाहा ! ( भागता है )

टेसू—( गुदगुदाता हुआ पीछा करता है ) थोड़ा और, ताकि आपका भण्डार फिर कभी खाली न होने पावे।

साहित्यानन्द—( भागता हुआ ) नहीं-नहीं, बहुत हो गया बहुत। आहाहाहा। आहाहा ! बस, अरे ! अब लिख लेने दे। आहाहाहा !

टेसू—हाँ-हाँ लिखिए। मना कौन करता है ?

साहित्यानन्द—( काग़ज़, क़लम, दावात के पास बैठ कर लिखने का उद्योग करता हुआ बीच-बीच मे टेसू की ओर चौक कर देखता जाता है ) देख, कहीं गुदगुदा न देना। हाँ, लेखनी महारानी अब हास्य की धारा बहाओ। ( ज़ोर लगाता हुआ ) हूँहुँ ! हूँहुँ !

टेसू—अरे यह हूँहुँ क्या ?

साहित्यानन्द—चुप रह। हास्य निकालने के लिए ज़ोर—उहुँक—बल लगा रहा हूँ। हाँ, चल-चल-चल। अरे ! लेखनी तो चलती ही नहीं। ओ टेसुआ ! टेसुआ ! टेसुआ !

टेसू—जी, कहिए कहिए कहिए !

साहित्यानन्द—अबे जल्दी से ज़रा—उँहुक—तनिक और तो कूक भर देना।

टेसू—क्या मसाला खाली होगया ? अच्छा अभी लीजिए, अच्छी तरह से भरे देता हूँ। ( साहित्यानन्द को गुदगुदाता है। )

साहित्यानन्द—आहाहाहाहा ! हीहीहीही ! बस-बस अरे ! उहूहूहूहू ! अबे ठहर-ठहर-ठहर । ( लिखने की कोशिश करता है। )

टेसू—वाह ! यह तो लिखने का अजब निराला ढङ्ग है। एक आदमी जब इधर से गुदगुदावे, तब उधर कलम चले। ऐसा तो मैंने न कभी देखा था और न सुना। मैंने भी दूसरी किताब तक पढ़ा था, मगर कभी किसी ने मुझे इस तरह लिखना-पढना नहीं सिखाया।

साहित्यानन्द—अबे बक-बक मत कर।

टेसू—क्या लिख चुके आप ?

साहित्यानन्द—नही, अभी तो एक शब्द भी नही निकला। हुःहू ! हुःहू ! अरे ! फिर भी कुछ नहीं, जानो लेखनी मे मोर्चा लग गया है।

टेसू—जी हाँ, यही बात है। नाच न जाने आँगन टेढ़।

साहित्यानन्द—( क़लम देता हुआ ) अच्छा इसे तनिक साफ—उहँ ! शुद्ध तो कर दे, तो एक बार किटकिटा कर सारा बल लगा दूँ। यदि तब भी कुछ न निकले तो समझूँगा कि हास्य हम ऐसे उच्चकोटि के साहित्य-मर्मज्ञों के लिखने का पदार्थ नही है।

टेसू—( कलम साफ़ करता हुआ ) जी हाँ, अङ्गूर खट्टे हैं।

साहित्यानन्द—इसीलिए इसे हम लोगों को अनादर की दृष्टि से अवलोकना चाहिए और इसे अश्लील, चरित्र-नाशक, कुत्सित प्रभावजनक इत्यादि-इत्यादि बताना चाहिए।

टेसू—जी हाँ, खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे।

साहित्यानन्द—और यह भी कहना चाहिए कि हमारे साहित्य मे शुद्ध हास्य-रस का बड़ा अभाव है और जिसे लोग हास्य मानते भी हैं, उसमे अधिकांश अश तो अनु-वादित है। ताकि हास्य का मान न बढे।

टेसू—जी हाँ, घोड़ा परखें भवन चमार।

साहित्यानन्द—जानता है, क्यों हमे ऐसा करना चाहिए? इसलिए कि इस बार हम भी साहित्य-सम्मेलन के सभापति हो जायँ। डेढ़-डेढ़ हाथ के शब्द प्रयोग करके भाषा को दुर्गम्य बना ही रहा हूँ, बस जहाँ हास्य पर भी तुच्छ दृष्टि डालना आरम्भ कर दिया, तहाँ तो सभापतित्व मिल ही जायगा।

टेसू—जी हाँ, अन्धेर-नगरी चौपट राजा।

साहित्यानन्द—अबे तू प्रत्येक वार्ता के अन्त मे क्या बुदबुदा देता है, जो बुद्धि ग्रहण नहीं कर पाती।

टेसू—यह तुकींबतुकीं है सरकार, न आपकी मैं समझूँ

न मेरी आप। अच्छा लीजिए कलम, अब लिखिए-लिखिए।

साहित्यानन्द—लिखता हूँ वे। कोलाहल क्यो करता है? अच्छा, तनिक और तो गुदगुदा दे।

[ भीतर के दरवाज़े पर थपथपी ]

टेसू—वह देखिए, भीतर का दरवाजा कोई खुलवाना चाहता है।

साहित्यानन्द—( कलम फेंक कर ) धत् तेरे की, फिर विघ्न पड़ गया। मत खोल। वही रॉड होगी—उहुँक—विधवा होगी चपला की माँ।

[ बाहर के द्वार पर अर्थात् दूसरी ओर थपथपी ]

टेसू—अरे! अब इधर कोई खटखटा रहा है।

साहित्यानन्द—यह तो बाहर का द्वार है। जानो कोई मिलने वाला आया। ठहर जा, लेई की प्याली छिपा दे।.... अब रोशनदान से झाँक के देख कि खद्दरधारी है या नौकरशाही।

टेसू—कैसे देखूँ? बहुत ऊँचा है।

साहित्यानन्द—मेरी ग्रीवा पर आरूढ़ होकर देख। ( टेसू को अपनी गर्दन पर सवार करा कर उठाता है। ) देखा!

टेसू—हाँ।

साहित्यानन्द—( टेसू को उतार कर ) बता, वह क्या पहने है, देशी या विलायती?

टेसू—यह हम क्या जाने ?

साहित्यानन्द—तब देखा क्या अपना मुण्ड ? आ फिर आरूढ़ हो। ( टेसू को गर्दन पर फिर चढ़ाता है )

[ द्वार पर फिर खटखटाहट ]

टेसू—( साहित्यानन्द की गर्दन पर से रोशनदान की ओर ) ठहरिए, इत्तला मिल गई है। फुरसत मिलने पर बुलाहट होगी। ( साहित्यानन्द से ) ठीक कहा न ?

साहित्यानन्द—( टेसू को उतार कर ) हाँ। अच्छा बोल क्या पहने है ?

टेसू—बहुत बढ़िया कपड़ा है।

साहित्यानन्द—तब विदेशी होगा। कोई नौकरशाही जान पड़ता है। अच्छा देना तो मेरा सम्पादकीय अँगरखा विलायती सासनलेट वाला।

[ टेसू मेज़ के नीचे से एक चमकदार कुरता देता है, जिसमें खद्दर का अस्तर लगा हुआ है। उसे साहित्यानन्द जल्दी-जल्दी पहनता है ]

टेसू—( साहित्यानन्द के कुर्ता पहनने के बाद ) मगर उसका कपड़ा ऐसा थोडे ही है। वह तो बहुत बढ़िया खद्दर मालूम होता है।

साहित्यानन्द—उल्लू कहीं का। तब पहिले क्यों नहीं बताया कि खद्दरधारी है। राम ! राम ! ( कुर्ते को उतारता है

और फिर उसी को उलट कर पहनता है और जेब से गाँधी टोपी निकाल कर पहनता है। )

टेसू—मैं समझा यह रूमाल है।

साहित्यानन्द—अवे यह दोनों है। सासनलेट की ओर यह रूमाल का काम देता है और खद्दर की ओर टोपी। देख, मै अब तो देश का सपूत बन गया।

टेसू—हाँ, इसमे क्या शक है। मगर वह तो देश का सपूत नहीं, कोई सपुतनी सी जान पड़ती है।

[ द्वार पर खटखटाहट ]

साहित्यानन्द—क्या वह कोई स्त्री है ?

टेसू—हाँ, ऐसी ही कुछ दिखाई पड़ी थी। मगर इस वक़्त ठीक याद नही।

साहित्यानन्द—हाय! हाय! तब इतना समय तूने क्यों नष्ट किया मूर्ख ? और अब कहता है कि ठीक याद नही। चल इधर आ और आँखे फाड़ कर भली-भाँति देख। ( गर्दन पर फिर सवार करा कर उठाता है। ) वोल, स्त्री है या पुरुष ?

टेसू—हमे तो न स्त्री न पुरुष, बल्कि कुछ गपडचौथ सा दिखाई पडता है, और ऊपर उठाइए तो साफ दिखाई पड़े।

साहित्यानन्द—तेरी ऐसी-तैसी ! जी चाहता है, यही से पटक दूँ।

टेसू—देखा-देखा, स्त्री है स्त्री।

साहित्यानन्द—( टेसू को उतार कर जल्दी-जल्दी कुर्ता-टोपी उतार कर मेज़ के नीचे फेंकता है और वहाँ से एक कोट निकाल कर पहनता हुआ ) यह कोई लेखिका होगी। पहिले इनके लेख आते थे, तब चित्र, अब स्वयं यह लोग आने लगीं। धन्य भाग ! इतने दिवसों पर्यन्त मेरी आशा सफल होती देख पड़ी। अब अवश्य ही मैं किसी साहित्य-पण्डिता से अपना पुनर्विवाह कर सकूँगा। क्योंकि जितनी सुगमता से सम्पादकों को उच्च शिक्षिता रमणियाँ मिल सकती हैं, उतनी अन्य किसी को नहीं। इसी उद्देश्य से तो हमने यह पत्र निकाला है। परन्तु हाय ! वह कहीं चली न जाय। अरे ! जल्दी से मेरा टोप निकाल टोप, इसी दिन के लिए उसे आज ही मोल लिया है। क्योंकि टोप-कोट मे सुन्दरता द्विगुण हो जाती है। ठहर जा, जब मैं कुर्सी पर सम्हल कर बैठ जाऊँ, तब इसे पहनाना। ( कोट पहन कर कुर्सी पर बैठता है )

टेसू—पतलून तो आपने पहनी ही नहीं।

साहित्यानन्द—उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि टाँगे तो मेज—उहुँक—उच्च चौकी के नीचे छिपी—उँहुक—गुप्त रहेंगी। हाँ, पहिले मेरा कोष यहाँ रख दे। यद्यपि अब तो भाषा बोलने का इतना अभ्यास हो गया है कि कोष की आवश्यकता नहीं पड़ती ; तथापि अस्त्र-विहीन रहना उचित नहीं। ( कुर्सी पर से उठ कर ) हाँ, बहुत सी

स्त्रियों के चित्र जो मैंने ऐसे शुभ अवसरों के लिए एकत्रित कर रक्खे हैं, उन्हे फैला कर रख दूँ, जिसमे वह जाने कि मै लेखिकाओं का कैसा उपासक हूँ। ( ऑफ़िस-बक्स मे से कई फ़ोटो निकाल कर मेज पर फैलाता है। )

( द्वार पर फिर खटखटाहट )

साहित्यानन्द—( कुर्सी पर बैठ कर ) अब शीघ्रता के साथ मुझे टोप पहना दे। क्योंकि कुर्सी टूटी होने के कारण दोनों हाथों से इसे ग्रहण किये रहना आवश्यक है।

टेसू—( टोप साहित्यानन्द की खोपडी पर बेढा करके पहनाता हुआ ) अरे! इसमे तो आपकी खोपड़ी ही नहीं जाती। ( टोप के ऊपर दो-चार घूँसे जमा कर ) टस से मस नही होती।

साहित्यानन्द—प्रातःकाल को जब इसे मैंने खरीदा—उहुँक—क्रय किया था तब तो मेरा मुण्ड उसमे घुस गया था।

टेसू—इतनी देर मे आपकी खोपडी बढ़ गई होगी। अच्छा ठहर जाइए। ( दौड कर एक कोने से बसुला लाता है। )

साहित्यानन्द—अबे यह क्या करेगा ?

टेसू—जरा सी आपकी खोपड़ी छील दूँ। तब यह टोप मज़े से बैठ जायगा। हाँ-हाँ, इस तरह मत चौंकिए, कुर्सी टूटी हुई है।

साहित्यानन्द—नही बे, ऐसा कही अनर्थ न कर देना। वह ले, द्वार फिर भड़भड़ाने लगा। बसुला नीचे फेंक।

[ टेसू बसुला मेज़ के नीचे रखता है। द्वार पर लगातार भड़भड़ाहट। उसके बाद सरला का गुस्से में आना ]

टेसू—जानो भड़भड़ाहट से सिटकिनी खुल गई।

सरला—उधर भी बन्द और इधर भी बन्द। और घण्टों भड़भड़ाने पर भी कोई नही सुनता। आखिर क्या हो रहा है यहाँ? ( मेज़ पर तस्वीरों को देख कर ठिठुक पड़ती है। ) अरे! यह क्या?

साहित्यानन्द—( सरला को देख कर बड़े ज़ोर से चौंकता हुआ ) यह चुड़ैल यहाँ कहाँ...... ( चौंकने मे कुरसी के साथ आप भी गिर पड़ता है। ) अरे! बाप रे बाप! हाय! दादा रे दादा! सर फूट गया।

टेसू—यह आप क्या गज़ब करते हैं। आप साहित्य-सम्मेलन के सभापति होने वाले हैं, भाषा मे रोइए भाषा मे, बाप बाप नहीं, बल्कि कहिए अरे! पिता रे पिता! हाय पितामह रे पितामह! मुण्ड फूटम।

साहित्यानन्द—(काँख-कूँख कर उठता हुआ) चुप बदमाश! ( सरला से ) तू यहाँ क्या करने फट पड़ी?

सरला—( अनसुनी करती हुई और तस्वीरों को दिखाती हुई ) यह किन नानियों की तस्वीरे हैं। द्वार बन्द करके

इन्हीं की पूजा की जा रही थी, क्या ? घिग्घी क्या बंध गई ? बोलते क्यों नही ?

टेसू—ज़रा खोपडी तो सहला लेने दीजिए ।

साहित्यानन्द—( अलग ) हाय ! हाय ! यह तो बड़ा अनर्थ हुआ, जो इस दुष्टा की इन चित्रों पर कुदृष्टि पड़ गई । अब यह आकाश-पाताल एक कर देगी । क्या करूँ ?

( चुपके-चुपके खसकता है )

सरला—बुढ़ापे मे अब तुम्हे यह शौक पैदा हुआ ? उधर कहाँ खसके जाते हो ?

साहित्यानन्द—( बिना देखे हुए ) अभी आता हूँ ।

सरला—पहिले मुझे बताते जाओ कि यह किन चुड़ैलों की तस्वीरे हैं, तब कहीं जाना ।

साहित्यानन्द—( जल्दी-जल्दी जाता हुआ ) पेट बहुत गडबडा रहा है । ( भाग जाता है )

सरला—( तस्वीरों को बटोरती हुई ) तुम्हारे पेट की गड़बड़ाहट अभी ठीक करती हूँ । तुम भाग कर जाओगे कहाँ ? ( तस्वीरें लेकर पीछा करती हुई जाती है )

टेसू—आहाहाहाहा ! यह अच्छा उल्टे लेने के देने पड़ गये । चलो मैं भी चल कर जरा इसका तमाशा देखूँ ।

( जाता है )

( पट-परिवर्तन )

---

## दूसरा दृश्य

[ साहित्यानन्द के मकान का पिछवाड़ा ]

[ संसारीनाथ साहित्यानन्द के मकान के पिछवाड़े की दीवाल फाँद कर बदहवास निकलता है । ]

[ नोट—दीवाल पर से कूदने का इन्तज़ाम खिसकने वाले बग़ली पर्दे (Sliding Wing) में होना चाहिए, वरना पर्दे की तरकीब ठीक नहीं बैठेगी, क्योंकि इसके पहले के दृश्य में मेज़-कुर्सियाँ हैं, जिसके आगे पट-परिवर्तन के लिए पर्दा गिराना ज़रूरी है । ]

संसारी—( घबड़ा कर भागता हुआ ) बाप रे बाप ! यह मर्दूद यहाँ भी पहुँच गया ।

[ संसारीनाथ घूम-घूम कर पीछे देखता हुआ भागता जाता है । सामने से एकाएक यदुनाथ आ पड़ता है और उससे टकरा जाता है । ]

यदुनाथ—संसारीनाथ ! अरे !!!

संसारी—हाय ! क्या अब इधर से भी पहुँच गये ?

यदुनाथ—कौन, संसारीनाथ ?

संसारी—तुम हो ? मै समझा साहित्यानन्द ।

यदुनाथ—वाह भई ! इतने दिनों के बाद मिले भी तो अन्धे होकर । क्या प्रेम ने तुम्हारी आँखें भी छीन लीं या यह तुम्हारी लेखनी की करामात है ? क्योंकि इन दिनों

तुम लेख भी सुना, बड़े ज़ोरों से लिखते हो। मगर इतने बौखलाये हुए क्यों हो ?

ससारी—कुछ न पूछो। बेमौत मर रहा हूँ। तकदीर से लड़ रहा हूँ। ( पीछे ताक कर ) मगर कहीं वह यहाँ भी न आ जाय।

यदुनाथ—अरे म्यॉ! आदमी हो या घनचक्कर ? इधर-उधर क्या देख रहे हो ?

ससारी—आह! कभी आदमी ज़रूर था, मगर जब से प्रेम के चक्कर मे पड़ा तब से सचमुच घनचक्कर बन गया।

यदुनाथ—फिर लगे वाही-तबाही बकने ? क्या हुआ क्या ? कुछ कहो तो सही!

संसारी—पूछ कर क्या करोगे ? क्या अब भी तुम्हारा पेट नही भरा ? अब तो दर्शनों तक के लिए तरसता हूँ। रातो-दिन रो-रोकर मरता हूँ, तुम्ही लोगों की बदौलत। तुम्हारी ही सलाह मे पड कर चपला के साथ शादी करने का प्रस्ताव साहित्यानन्द से उस दिन कर बैठा था, जिसका नतीजा यह हुआ कि अब उनके घर मे मेरी पैठ तक नहीं होती। दूर ही से मुझे देख कर डण्डा लिये दौडते हैं। आज महीनों तड़पने के बाद जब नहीं सब्र कर सका, तो बडी हिम्मत करके लुक-छिप कर उनके यहॉ गया।

यदुनाथ—अच्छा-अच्छा, तब क्या हुआ ? बातचीत हुई ?

संसारी—आह ! बातचीत की कहाँ नौबत आई ? मैं चपला के पास पहुँच भी न सका था कि बीच ही मे वह फट पड़े।

यदुनाथ—वह कौन ?

संसारी—वही साहित्यानन्द और कौन ? वह मियां-बीबी दोनों बैठक से लड़ते हुए निकले। मुझे छिपने का कहीं मौका न मिला तो झट पाखाने मे घुस गया।

यदुनाथ—राम ! राम ! तुम्हारी अक़्ल बिल्कुल ही मारी गई ? जब तुम उससे इतना डरते हो तब उसके यहाँ गये क्यों ? ख़ैर कहो, उसके बाद क्या हुआ ?

संसारी—हुआ क्या ? बीबी की फटकारों का जवाब जब साहित्यानन्द को कुछ न सूझा तो अपनी जान चुराने के लिए उन्होंने भी लोटा लेकर पाख़ाने ही की शरण ली।

यदुनाथ—( एकाएक हँस कर ) वाह ! वाह ! आहा-हाहा ! तब तो ससुर-दामाद की अच्छी मुठभेड हुई होगी ! और बड़ी अच्छी जगह।

संसारी—होती तो। मगर मैंने इसकी नौबत ही नही आने दी। झट उन्ही के कन्धे पर लात रखकर दीवाल फॉद गया और वैसे ही तुम मिले।

यदुनाथ—( बड़े ज़ोरों से हँसता हुआ ) आहाहाहा !

आहाहाहा ! उफ ! पेट मे बल पड़ गये। यह तो सोने मे सुहागा हुआ। उस बेचारे के कन्धे तुम्हे बड़ी दोआएँ देते होंगे। अब वह जरूर तुम्हे अपनी लड़की व्याह देगा।

संसारी—क्यों नहीं ? पावे तो मुझे कच्चा चबा जाएँ। तभी तो घूम-घूम कर देख रहा हूँ, कही आते न हों।

यदुनाथ—तुमने काम ही ऐसा लाजवाब किया है। अब भी वह तुमसे खफा न हों, तो ताज्जुब ही है।

ससारी—उनकी खफगी का हाल न कहो। अगर उन्हे कम से कम यही मालूम हो जाय कि उनके अखबार मे श्रीमती तिलोत्तमा देवी के नाम से लेख सब मेरे ही लिखे हुए होते हैं, तो वह अपना सारा अख़बार का अख़-बार ही जला दे।

यदुनाथ—क्या ? क्या ? क्या ? तुम्हीं तिलोत्तमा देवी हो ? तभी मुझे तुम्हारे नाम से किसी अख़बार मे भी लेख नहीं दिखाई पड़ा। हालाँकि जब से सुना कि तुम अब लेख भी लिखने लगे हो, उसी वक्त से मैं तुम्हारा लेख अखबारों मे ढूँढता हूँ। ( रमाकान्त का आना )

रमाकान्त—वाह भाई ससारीनाथ ! जब तुमने साहि-त्यानन्द के पिछवाड़े बसेड़ा डाल रक्खा है तब भला तुम घर पर कैसे मिल सकते थे ? एक तो महीनों के बाद आज दौरे पर से लौटा तो सीधे तुम्हारे यहाँ लपका। जब नहीं मिले और ( यदुनाथ की तरफ इशारा करके ) इनसे भी पूछने

पर तुम्हारा कुछ पता न चला तो मै समझ गया कि हज़रत अपनी 'प्रेमगली' का चक्कर लगा रहे होंगे। आखिर मिले भी यही। कहो कैसे रहे भाई?

यदुनाथ—अजी हाल-चाल पीछे पूछना, पहिले यह तो सुन लो। आप ही हैं श्रीमती तिलोत्तमा देवी।

रमाकान्त—सचमुच? वाह! वाह! अरे भई, तुम्हे लेख लिखने का शौक कैसे चर्रा उठा!

संसारी—जब कभी दिल पर चोट लगेगी तो इसका भेद मालूम हो जायगा।

यदुनाथ—सच कहते हो उस्ताद। मान गया। बिना चोट खाए भावों का ठीक-ठीक ज्ञान नही होता। और बिना इस ज्ञान के कोई लेखक लेखक नहीं हो सकता और न कवि कवि। जब दिल पर चोट लगती है और भाव तिलमिला उठते हैं, तब उन्हे बिना उगले रहा भी नहीं जाता।

संसारी—उफ! ग़ज़ब करते हो भाई यदुनाथ! तुमसे असलियत छिप नही सकती।

रमाकान्त—मगर हमारे यहाँ की जीवनियों मे यह बाते देखने में नहीं आतीं।

यदुनाथ—कैसे आयें, जीवनी जीवनी हो तब तो? यहाँ तो जीवनी के नाम से खुशामद-गाथा लिखी जाती है। बड़े उच्च-कुल मे उत्पन्न हुए। उच्च शिक्षा पाई। परीक्षा

मे प्रथम होते थे। बड़े भले मानुष थे। डेढ़ सौ किताबे लिखी। वगैरह-वगैरह। पूछिए, भला इन बातों से किसी को क्या मतलब या दिलचस्पी? दुनिया मे उनके ऐसे करोड़ों उच्च शिक्षा वाले पड़े हैं। इसीसे यहाँ जीवनियों का कुछ भी महत्व नही है।

रमाकान्त—( हँस कर ) तब जीवनियो मे क्या होना चाहिए लेक्चराधिराज?

यदुनाथ—हँसने की बात नहीं है। किसी की जीवनी हमेशा किसी न किसी गुण ही के लिए लिखी जाती है। इसलिए इसमे उन घटनाओं और परिस्थितियों की अच्छी छान-बीन होनी चाहिए, जिनके द्वारा उस गुण की उपज, वृद्धि, परिवर्तन इत्यादि हुए हैं, ताकि दुनिया उससे सबक ले। विदेशी जीवनी-लेखक तो इन बातों के पीछे मर मिटते हैं, इनके रहन-सहन, आचार-विचार निजी पत्रों तक मे ढूँढ़ते हैं। देखो Boswell ने Cromwel की जीवनी के लिए क्या नही किया। तब जाकर वह जीवनियाँ साहित्य का अङ्ग बनती है।

ससारी—वाह भाई यदुनाथ, तुम्हारी बातो का अगर सग्रह किया जाय तो साहित्य-सुधार पर बड़ी अच्छी पुस्तक बन जाय।

यदुनाथ—तुम क्यो न कहोगे ऐसा? लेखक हो न?

रमाकान्त—हाँ, यह तो मै भूल ही गया। हाँ भई

संसारीनाथ, तुम्हें उपनाम ही रखना था तो कोई मर्दाना नाम रखते ? जनाना नाम क्यों रक्खा ? क्यों, सखी-भाव का कुछ ज़ोर तो नहीं है ?

संसारी—राम कहो। मर्द का चोला पाकर मुझे औरत बनना पसन्द नहीं। कौन जनख़ों की तरह 'अय बहिनी, अय दीदी' कह कर अपनी औकात खराब करे और दूसरों से अपनी ही नही, बल्कि अपने धर्म की भी हँसी करावे ? अगर ईश्वर मुझे इस रूप मे नहीं मिल सकते तो उन्होंने मुझे यह चोला दिया क्यों ? ऐसे ईश्वर को मेरा दूर ही से प्रणाम है, जो असली कौन कहे, बनावटी औरतों तक पर भी रीझ जाते हों ?

रमाकान्त—तब तुमने तिलोत्तमा का नाम क्यों रक्खा ?

यदुनाथ—कहते क्यों नही कि सम्पादकों की आँखों मे धूल झोंकने के लिए।

संसारी—हाँ भई, यही बात है। जब देखा कि नये लेखकों की कहीं पैठ नहीं होती और सब जगह से मेरे लेख वापस आने लगे, तब मैंने यह चाल खेली और तारीफ है कि मेरे इतने लेख छप जाने के बाद भी अगर अपने नाम से कोई लेख भेजूँ तो वह अब भी उसी तरह वापस आ जाएगा।

यदुनाथ—क्यों नही ? बड़े सम्पादकों के पास नये

लेखकों के गुण और दोष परखने या सलाह बताने के लिए समय नहीं और टुटपुँजियों को तमीज़ नहीं। और तुमने भी तो अपने लेखों के लिए साहित्यानन्द का अख़बार चुना। क्योंकि तिलोत्तमा के लेख उसीमे मै ज़्यादातर देखता हूँ। ऐसे ऐरे-ग़ैरे पचकल्यानियों से इसके सिवाय उम्मीद ही क्या हो सकती है, जो सिर्फ दूसरों ही के पद-चिन्हों पर कदम रखना जानते हैं ?

संसारी—क्या करता ? सबसे पहिले उन्ही पर मेरा चकमा चल गया। क्योंकि स्त्रियों के लेखों के लिए खास तौर से उन्होंने विज्ञापन दे रक्खा था।

यदुनाथ—हाँ, वह जानता होगा कि नये लेखकों के बदले नयी लेखिकाओं के लेख चुनने मे अपनी योग्यता की आबरू बहुत कुछ बची रह सकती है। क्योंकि इनके लेखों मे अगर दोष भी होंगे तो पाठक समझेंगे कि सम्पादक जी उनका उत्साह बढ़ा रहे हैं।

संसारी—और दूसरे असलियत तो यह थी कि मुझे अपनी चपला को अपना हृदय चीर कर दिखाना मञ्जूर था। इसीलिए मैंने उसके घर का अखवार चुना, ताकि वह उसे पढ़ने के लिए आसानी से पा सके। सच पूछो तो उसीके लिए मै लेखक बना और उसीके लिए मै लिखता भी हूँ।

रमाकान्त—उसे क्या मालूम कि तुम्ही तिलोत्तमा हो ?

ससारी—उसे न मालूम होगा तो फिर किसे मालूम होगा ? सौ-सौ खुशामदे करके टेसुआ से यह भेद उसके पास मैंने पहिले ही कहला भेजा था।

रमाकान्त—यह कहो। तुमने टेसुआ को अपनी तरफ़ कर लिया।

संसारी—मगर इससे क्या ? साहित्यानन्द तो अपनी तरफ़ नहीं हैं। एक तो योंही नाराज़ थे, अब और जामे से बाहर हो गये। यही तो रोना है।

यदुनाथ—( सोचते-सोचते चौंक कर ) भला तिलोत्तमा के लेखों की माँग के लिए तुम्हारे साहित्यानन्द भी कभी पत्र भेजते हैं ?

ससारी—बराबर। पहिला लेख पहुँचते ही उन्होंने तो खतों का ताँता बाँध दिया है।

यदुनाथ—बस अब मार ली बाजी। दोस्त, अब मत घबड़ाओ। चपला की शादी तुमसे कराकर छोड़ूँगा। इसके लिए मुझे एक चाल सूझ गई। अब उसके जितने भी खत तिलोत्तमा के नाम से आये उनके जवाब मुझसे लिखवाया करो। और तुम अपने लेखों की भाषा जितनी भी कठिन बना सको, बनाओ। हालाँकि ऐसा करना अपनी भाषा की जड़ खोदना है। जिसे सरल लिखने की योग्यता नहीं होती, वही इसे अपनी लियाकत झाड़ने के लिए अपनाते

मगर खैर, यहाँ तो उल्लू को उल्लू बना कर अपना काम निकालना है।

सारी—तिलोत्तमा के नाम से तो उनका एक आज ही खत आया है, जिसका जवाब अभी तक मैंने नही दिया है।

यदुनाथ—जाओ उसे हमे दो।

ससारी—यहाँ कहाँ ? घर पर है।

यदुनाथ—चलो फिर वही चलो। इसी दम से मैं अपनी कार्रवाई शुरू करता हूँ।

रमाकान्त—मगर यह क्या कहा कि कम योग्यता वाले कठिन भाषा अपनाते हैं। भला यह कैसे मुमकिन हो सकता है ?

यदुनाथ—सरल लिखना कठिन है और कठिन लिखना आसान, लिख कर देखो तब पता चलेगा। भाषा की शान विचारों मे है, विचारों का प्रभाव शैली मे है और शैली की जान सरलता मे होती है।

[ बातें करते-करते सबका जाना और चपला का अपने मकान की दीवाल पर दिखाई पडना। ]

चपला—( अपनी दीवाल से झाँकती हुई ) अरे ! यहाँ तो कोई नही। मगर इधर ही से उनकी बातचीत की भनक सुनाई पड़ रही थी। हा ! मै भी कैसी अभागिनी हूँ कि आज वह इतने दिनों के बाद घर मे आए भी तो .....

( एक तरफ़ देख कर ) अरे ! पिता जी आ रहे हैं। और हाथों मे क्या लिये हैं ?

[ दीवाल पर से सर हटा लेती है , और बीच-बीच मे थोडा-थोडा झाँकती है । ]

साहित्यानन्द—( बहुत सी कमानीदार चूहेदानी लिये हुए ) साला मेरे ही कन्धे पर चढ़ कर सर से दीवाल फाँद गया, मानों मै मनुष्य नही, सीढ़ी था। ऐसी दुष्टता ? उसकी ऐसी-तैसी करूँ। साला अब पिछवाड़े के मार्ग से आता-जाता—उहुँक, आगमन और प्रस्थान करता है। इसी हेतु मै चूहों को फाँसी देने वाली इतनी कमानीदार चूहेदानियाँ तुरन्त हाट से क्रय कर लाया। अब इन्हे उसके मार्ग मे बिछा दूँगा। बस जैसे ही वह यहाँ आयेगा और उसका पैर—उहुँक, पाद किसी न किसी चूहेदानी पर पड़ा, तहाँ उसकी कमानी कचाक से लगेगी और उसका अङ्गुष्ठ खटाक से कट कर पृथक् हो जायगा, तब साले को मेरे कन्धे पर आरूढ़ होने का आनन्द मिलेगा ? ( दाँत किटकिटा कर ) क्या बताऊँ, जब वह दीवाल—उहुँक—भीत फाँद गया तब जाना कि वह ससारीनाथ है, नही तो मै अपने कन्धों को ऐसा हिला देता कि साला धमाक से नीचे गिरता और तड़ाक से मैं उस पर चढ़ बैठता—उहुँक—आरूढ बैठता। अरे बाप रे बाप ! हाय ! हाय ! मर गया इस हिलने-डुलने मे एक चूहेदानी की कमानी मेरे ही

हाथ मे लग गई। हाय ! हाय ! उँगलियाँ आधी-आधी कट गई ।

[ बैठ कर रोता और अपने हाथ से चूहेदानी छुडाता है। ]

साहित्यानन्द—( कराहता और अपना ख़ून-भरा हाथ झटकता हुआ ) अब जाकर उसके मार्ग मे इन चूहेदानियों को बिछा दूँ। नही फिर किसी की कमानी जो छटक गई तो यह हाथ भी खण्डित हो जाएगा।

[ चूहेदानियाँ लेकर एक तरफ़ जाता है और चपला दीवाल पर अपना सर निकालती है। ]

चपला—हाय ! यह जानमारू कार्रवाई क्या मेरे ससारीनाथ के लिए हो रही है ? नही-नही, प्राण दे दूँगी, मगर उनका एक बाल भी बाँका न होने दूँगी। कही वह इधर ही से आ न पड़े। अभी-अभी उनकी आवाज़ इधर ही सुनाई भी पडी थी। हाय ! क्या करूँ ?

[ साहित्यानन्द का आना ]

साहित्यानन्द—बिछा दिया। मार्ग भर मे बिछा दिया। परन्तु अब भी सन्तोष नहीं हुआ। अच्छा अब जाकर एक युक्ति और करता हूँ। ( जाता है। )

[ चपला दीवाल पर से एक रस्सी लटकाती है और उसके सहारे उतरती है। ]

चपला—अब जल्दी से जाकर मै उन जानमारू चूहे-दानियों को रास्ते से हटा कर अलग पेड़ों के पास फेक

दूँ, जहाँ कोई जाता न हो। नही कौन ठीक, वह इधर ही आ पड़े और तब हाय !....

[ उसी तरफ जाती है, जिधर साहित्यानन्द चूहेदानियाँ लगा आया था। ]

[ लठैतमल और डण्डेबाज़ का दूसरी तरफ़ से आना। ]

लठैतमल—वाह-वाह ! हमका हीयाँ पठै के अपने गायब हो गये ? कहो हो डण्डेबाज़ वै केहर गये केहर ?

डण्डेबाज़—वही तो हम भी देख रहे हैं लठैतमल। चलो उनको बुला लावे। हम लोग ऐसी कच्ची गोलियाँ नहीं खेलते। ( दोनों फिर लौट जाते हैं )

[ चपला का आना ]

चपला—सब हटा कर पेड़ों के पास कर आई। अब जाकर जी मे जी आया।

[ रस्सी के सहारे दीवाल पर चढ जाती है ]

[ साहित्यानन्द, लठैतमल और डण्डेबाज़ का आना ]

साहित्यानन्द—अरे ! हमारे यहाँ उपस्थित रहने की क्या आवश्यकता ? कौन सा महाकार्य है ? तुम लोग जाकर पेड़ों की आड़ मे गुप्त रहो। जब उस मार्ग पर किसी को चिल्लाते हुए सुनना, वैसे ही दौड कर उसे मारना आरम्भ कर देना। परन्तु सावधान, तुम लोग मार्ग पर नहीं, वरन किनारे हट कर चलना !

डण्डेवाज—यह सब सही है, मगर जब आप यहाँ मौजूद रहे तभी हम लोग यह काम करेंगे।

साहित्यानन्द—अच्छा यही सही। जाओ उस पेड की आड़ मे गुप्त हो जाओ। मार्ग से हट कर चलो। हाँ अब ठीक है। ( दोनों का चूहेदानियों की ओर जाना )

साहित्यानन्द—अब ईश्वर उस साले ससारीनाथ को इधर भेज दे, तो बस आनन्द ही आनन्द है। आता ही होगा। नीचे कमानियाँ अङ्गुष्ठ काट लेंगी और ऊपर से डण्डे पड़ेगे।

[ नेपथ्य में रोने और चिल्लाने की आवाज़ ]

साहित्यानन्द—ओहोहो ! आ गया और फँस गया। तभी साला चिल्ला रहा है, अब साले पर मार पड़ेगी। आहाहाहाहा !

[ डण्डेबाज़ और लठैतमल का लँगडाते हुए आना ]

डण्डेबाज़—अरे बाप रे बाप, मर गये ! पेड़ के पास चूहेदानी लगा कर और वहाँ हम लोगों को इस तरह धोखा देकर भेजना ?

लठैतमल—देखत का हौ। मार सारे के खोपड़ी ढुइ होय जाय। हाय दादा ! हमहूँ लङ्गड़ होय गएन। मार-मार सारे के, जीयत न छाँड़।

[ दोनों साहित्यानन्द को मारते-मारते भगा ले जाते हैं ]

[ पट-परिवर्तन ]

# तीसरा दृश्य

[ स्थान—एक पार्क ]

[ रमाकान्त का एक अख़बार पढ़ते हुए आना ]

रमाकान्त—( पढता-पढ़ता एकाएक नफ़रत से अख़बार दूर फेंक देता है ) राम ! राम ! ऐसा पक्षपात ?

[ यदुनाथ का आना ]

यदुनाथ—ओहो ! तुम पहले ही से यहाँ पहुँच गये। मगर तुम तो—( सूरत ग़ौर से देख कर ) क्यों, क्या हुआ क्या ?

रमाकान्त—आज के अख़बार मे कल के तमाशे का हाल नहीं पढ़ा, जो यहाँ की शिक्षित मण्डली ने खेला था ?

यदुनाथ—नहीं तो। क्यों ?

रमाकान्त—तमाशा तो हमने और तुमने दोनों ही ने देखा था। जैसा था वह हम-तुम खूब जानते है।

यदुनाथ—हाँ-हाँ। मगर जब नाटक ही ऊटपटाँग हो तो खेलने वालों का क्या दोष ? जब लोग लेखन-कला का गणेशायनमः नाटक ही लिख कर करना चाहते हैं, तब नाटक-कला की दुर्दशा न होगी तो होगी क्या ? यह नहीं ख़याल करते कि केवल बातों ही मे चरित्र-चित्रण, भाव-प्रदर्शन, घटना-विकास करना और उनमे दृश्यों की ऐसी तरतीब बाँधना कि वह घटना-चक्र और साथ ही

रङ्गमञ्च पर ठीक बैठती जाएँ, इनके अलावा बाते भी इतनी स्वाभाविक हों कि उनके नाट्य मे कही भी अड़चन न पड़े, खेल नहीं है। जब लेखनी लेखन-कला पर पूरा अधिकार जमा ले और लिखने वाला स्टेज-ज्ञान और नाट्य-मर्म से भली-भाँति परिचित हो जाय, तब कहीं उसे नाटक लिखने की हिम्मत करनी चाहिए। वरना वह नाटक ही क्या, जो रङ्गमञ्च पर ठीक न उतरे? हालाँ कि कुछ लोगों ने इस ऐब को छिपाने के लिए ही एक नया नाम 'पाठ्य-नाटक' निकाला है। उनका सर! नाटक भी भला कहीं खाली पढ़ने के लिए होता है? ऐसा होता तो फिर गल्प और उपन्यास की क्या जरूरत थी?

रमाकान्त—वही तो। एक तो नाटक दो कौड़ी का था, उस पर वह खेलने वालो की काट-छाँट से और भी चौपट हो गया था। मगर—( अख़बार उठाता है )

यदुनाथ—वह तो हुआ ही चाहे, क्योंकि नाटक मे कोई भी अंश बेकार नही होता। जिसे हम बेकार और भद्दा समझते हैं, वह अक्सर दृश्यों की तरतीब और घटनाओं का क्रम ठीक बैठालने की खातिर या दर्शकों को जरा सा उकता कर यह बोध कराने के लिए होता है कि इसके पहिले की घटना घटित हुए बहुत या कुछ न कुछ समय हो गया।

रमाकान्त—( अखबार की तरफ इशारा करके ) मगर यह

बड़े दब्बू मालूम होते हैं, जो इनकी धाँधली चुपचाप सहते जाते हैं और इनकी ख़बर नही लेते।

यदुनाथ—क्या ज़रूरत ? यह लोग हैं कौन, तीन मे या तेरह में ?

रमाकान्त—कम से कम बनते तो हैं बड़े ज्ञानी, भाषा-प्रचारिणी-सभा के मेम्बर।

यदुनाथ—जाव भी। जहाँ ऐसे लोग मेम्बर होंगे वहाँ भाषा-प्रचारिणी काहे को, बल्कि भाषा-हत्याकारिणी सभा बन जायगी। हमारे हास्य-लेखकों का इन पर लेखनी उठाना अपनी लेखनी का अपमान करना है। उनकी निगाहों मे ये लोग इतनी भी इज्ज़त के क़ाबिल नहीं हैं। वह ख़ूब जानते हैं कि साहित्य की कद्र और भाषा की तरक्की जनता के हाथ मे है। तभी तो हास्य-लेखकों मे कोई इनकी ओर फूटी आँख से भी नही देखता।

[ संसारीनाथ का कुछ ख़त लिए हुए आना ]

ससारी—भई साहित्यानन्द पर तुम्हारा चकमा तो असर करने लगा। यह देखो, उसका आज का ख़त, जिसे उसने तिलोत्तमा के नाम से भेजा है और जिसे मै अभी-अभी डाकख़ाने से लेकर आ रहा हूँ।

[ ख़त यदुनाथ को देता है ]

रमाकान्त—पढ़ो-पढ़ो। देखे इस दफे उसने क्या लिखा है।

यदुनाथ—( ख़त पर सरसरी नज़र डालता हुआ ) लिखा क्या है ? रङ्ग जमता जा रहा है। चित्र की माँग है। दर्शनों की लालसा है। ( ख़त पर नज़र डाले हुए ) ओहो ! फोटो के लिए तो इस दफ़े हाथ जोड़ कर प्रार्थना है। ( सामने से पत्र हटा कर ) अभी क्या, जब तिलोत्तमा के पीछे इसे पागल बना दूँ, तब मेरा नाम यदुनाथ है। उसके बाद तो उसे उँगलियों पर नचाना बायें हाथ का खेल है। फिर तो जो चाहूँगा, उससे करा लूँगा। मेरी छेड़खानियों ने कहाँ तक काम किया है, इसको जाँचने के लिए मैंने तिलोत्तमा की तरफ़ से उसे कल लिख भेजा है कि मै अभी कुमारी हूँ और पिता जी पुराने खयाल के हैं। इसलिए न मैं पर्दे के बाहर निकल सकती हूँ और न किसी फोटोग्राफ़र के सामने बैठ कर फोटो खिचवा सकती हूँ। चित्र कहाँ से भेजूँ। यदि आप कृपा कर कल साढ़े पाँच बजे शाम को मत्थे पर हरा टीका लगा कर पार्क मे टहलने के लिए आवे तो मै अपने कोठे पर से दूरबीन द्वारा आपका दर्शन पाकर अपना जन्म सफल कर लूँगी।

रमाकान्त—ओहो ! यह चाल तो अच्छी चले उस्ताद, और यह खत उसे आज ही मिला होगा।

यदुनाथ—इसीलिए तो तुम लोगों को इस वक्त यहाँ मिलने को कहा था। मेरा खयाल है कि यह ख़त अपना असर जरूर दिखायेगा और वह दौड़ता हुआ आयेगा।

मैने टेसुआ से भी कह दिया है कि जब वह आने लगें तो मुझे ख़बर कर दे। ख़ैर, अभी बहुत वक्त बाकी है। हाँ संसारीनाथ, ज़ब तक तुम भी अपने मत्थे पर एक हरा टीका लगाओ। ( अपनी जेब से रङ्ग की डिब्बी निकालता है )

ससारी—( घबड़ा कर ) क्यों ?

यदुनाथ—ताकि प्रेम का नशा डाह की आँच से उस पर और जल्दी चढ आये। तुम्हारी पेशानी पर अपना ही ऐसा टीका देख कर वह यह समझे कि तुम भी तिलोत्तमा के लिए यहाँ आये हो।

रमाकान्त—बहुत ठीक। यह खूब सोचा। प्रेम मे दिल बड़ा शक्की हो जाता है। वह जरूर यही समझेगा।

संसारी—मगर वह मुझसे कहीं और न बिगड़ जायँ ?

यदुनाथ—और अभी क्या वह कम बिगड़ा हुआ है ? अजब आदमी हो, जब देखो तब तुम्हे लेहाज़ ही मारे डालता है। अगर तुम चपला को पाना चाहते हो, तो जैसा कहता हूँ वैसा करो, नही जाने दो। हमारा क्या ?

ससारी—नहीं भाई, खफा न हो। हाथ जोड़ता हूँ। चपला की ख़ातिर मै सब कुछ झेलने को तैयार हूँ।

यदुनाथ—( संसारीनाथ के हरा टीका लगाता हुआ ) अब तुम आये रास्ते पर। बस अब इतना करो कि जब साहित्यानन्द आवे तो उसके सामने खूब अकड़-अकड

कर इस तरह घूमना कि मानो तुम उसे पहचानते ही नहीं। समझे! जब तक हम लोग तिलोत्तमा के बाप और नौकर बन कर आयेंगे और टीका पहचान कर तुमसे मिलेंगे, फिर देखना तमाशा। वह लो, टेसुआ भी आ गया। क्यों रे, क्या हाल है? आ रहे हैं?

टेसू—आने की तैयारी कर रहे हैं। खूब टीका-ऊका लगाया है। (संसारीनाथ की तरफ़ देख कर) बस-बस ऐसा ही।

रमाकान्त—क्या अभी घर से चले नही?

टेसू—नहीं, अभी जो आज दिन भर मे कविता लिखी है उसे रट रहे है। कहते हैं कि उसे पार्क मे चल कर खूब चिल्ला-चिल्ला कर पढ़ेगे, ताकि अड़ोस-पड़ोस के सभी मुहल्ले वाले सुन सकें। अच्छा अब जाता हूँ। (जाता है)

यदुनाथ—ओहो! यह ज़ोर?

रमाकान्त—उसकी कविता सुनने काबिल होगी।

यदुनाथ—यह अच्छी कही, भला वह कविता क्या कहेगा अपना सर। कविता कहने के लिए दिल-दिमाग और जबान चाहिए। वह कविता नहीं, कविता की टॉग अलबत्ता तोड़ सकता है।

रमाकान्त—वही क्यों? कविता की टॉग आजकल बहुत से लोग तोड़ते हैं भाई।

ससारी—मगर यह धाँधली तभी तक है, जब तक कविता की भाषा बोल-चाल की भाषा से भिन्न रक्खी जाती है।

रमाकान्त—अब यह भी बोले।

यदुनाथ—साहित्य के विषय पर इनकी ज़बान ख़ाह-मख़ाही खुलेगी। आख़िर लेखनी का असर कहाँ जा सकता है? ख़ैर, ठीक कहते हैं। तभी तो कविता मे न कोई शब्दों के चुनाव और न उनके इस्तेमाल पर ध्यान देता है—जो शब्द जहाँ चाहते हैं, झट खींच-खाँच या सिकोड़-फिकोड कर ठूँस देते हैं। वाक्यों तक को भी तोड़-मोड़ कर बुरी तरह उलट-पलट देने से बाज नही आते। जुमले का सर यहाँ है तो धड़ का साढ़े तीन कोस तक पता नही; और धड़ है भी तो पेट पीठ के ऊपर और पीठ टाँग के नीचे है। इसीसे न उसमे कुछ मजा होता है, न खूबी होती है, और न असर ही होता है। बल्कि सुनने तक मे बुरी और भद्दी मालूम होती है। वह कविता क्या खाक दिल पर लग सकती है, जिसके मानी घण्टो सर मारने पर खुले।

ससारी—ऐसी हाथापाई भला कही बोल-चाल की भाषा मे चल सकती है? जहाँ जरा शब्दों और वाक्यों का बेजा इस्तेमाल हुआ, तहाँ वे कानों मे खटक कर फौरन कहने वाले की ज़बान पकड़ लेगे।

रमाकान्त—क्यों नहीं। मगर मुश्किल तो यह है कि हमारी वर्णमाला मे ए ऐ, ओ औ का कोई ह्रस्व अंश है ही नहीं। हालाँकि बोलने मे ये बहुत सी जगहों पर ह्रस्व ही बोले जाते हैं। जैसे "तो क्या हुआ" मे "तो"। "कहने को बात रह गई" मे "को"। अब यही फिकरे अगर हम पद में लावें तो हिन्दी-पिङ्गल के क़ायदे पर "तो" और "को" को डबल मात्रा मे रख कर छन्द बैठालना पड़ेगा। क्योंकि ह्रस्व मात्रा इनकी है नही। तब बोल-चाल का मजा या उसके ऐसा बहाव इसमे कैसे आ सकता है?

यदुनाथ—यह न कहो। कहने वाला अपनी ज़बान की सफाई लाख ढङ्ग से दिखला सकता है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमारी वर्णमाला का यह ऐब हमारे इस घमण्ड को, कि नागरी-लिपि मे हर तरह के उच्चारण के शब्द सही-सही लिख सकते हैं, तोड़ रहा है। क्योंकि हमारे पास ह्रस्व एकार न होने के कारण Set, Pet, Men, Ten ठीक-ठीक लिख नहीं सकते। इसलिए इन चारों स्वरों का ह्रस्व अंश रखना बहुत ज़रूरी है। इनके बदले मे ऋ ॠ ऌ ॡ को स्वरों की श्रेणी से अगर अलग कर दे तो कमी-बेशी दोनों बराबर हो जाय और नुकसान भी कुछ न हो। क्योंकि अव्वल तो उच्चारण के लेहाज़ से ऋ-ऌ को स्वरों मे रखना ही नही चाहिए

और दूसरे इनका काम रेफ और ईकार से बखूबी चल सकता है ।

रमाकान्त—मगर ह्रस्व ए, ऐ, ओ, औ, को लिखिएगा किस तरह, यह तो बताइए !

यदुनाथ—"भ" की तरह "ए" का मत्था खोल देने से ह्रस्व "ए" हो सकता है । और जहाँ पाइयों का मामला है, वहाँ ऊपर की पाइयों को पट से चित कर देने से काम बन सकता है । इस तरह से हमारी वर्णमाला का यह बेढब ऐब भी दूर होगा और पिङ्गल के नियमो को बदलने की कोई जरूरत भी न पड़ेगी ।

साहित्यानन्द—( नेपथ्य मे ) अबे टेसुआ ! अब तो पार्क—उहुँक उपवन—आ गया । अब मै अपने स्वछ-छन्द का पढ़ना शुरू कर दूँ ?

यदुनाथ—( चौंक कर ) अरे ! आ गया । आओ भाई रमाकान्त, चलो झटपट भेप बदल कर आवे । और तुम ससारीनाथ, यही रह कर जैसा कहा है वैसा करना ।

रमाकान्त—जरा उसकी कविता सुन लूँ तब ।

यदुनाथ—नही जी, आओ चलो !

[ यदुनाथ रमाकान्त को पकड ले जाता है और दूसरी तरफ से साहित्यानन्द और टेसू का आना ]

साहित्यानन्द—( ससारीनाथ को बिना देखे हुए ) क्यों बे, तू उत्तर क्यों नहीं देता ?

टेसू—मैने कुछ सुना ही नही, जवाब क्या दूँ ?

साहित्यानन्द—क्यों नही सुना ?

टेसू—( कान खुजाता हुआ ) आपने रास्ते मे एक दफे जो अपनी कविता पढ़ी तो उसका एक बड़ा सा शब्द मेरे इस कान मे अटक गया है, जो निकाले से नही निकलता।

साहित्यानन्द—हाँ, अच्छा उस कान—उहुँक कर्ण—से सुन।

टेसू—( घूम कर ) कहिए।

साहित्यानन्द—उस पेड़ के पास चला जा और वहाँ से अवलोक कि मेरा यह टीका दिखाई पड़ता है या नहीं।

टेसू—( दूर जाकर ) यहाँ से तो नहीं दिखाई पडता।

साहित्यानन्द—अच्छा टीके को तनिक और चटक और बड़ा—उहुँक महान—कर दूँ ( जेब से रङ्ग की डिब्बी निकाल कर टीका बडा करता है। ) अच्छा अब तो देख!

टेसू—हाँ, अब कुछ-कुछ दिखाई पडने लगा।

साहित्यानन्द—अच्छा वहीं रह। अब मैं अपनी कविता पाठ करता हूँ। देख, सुनाई पड़ती है या नहीं। रबड-छन्द है रबड। इसके पद रबड़ की भाँति जितना चाहो, उतना बढ जाते हैं। सुन :—

[ जेब से कागज़ निकाल कर चिल्ला-चिल्ला कर पढता है ]

प्रेम-सुमन की माला पहने
स्नेह-सुरभि के माते
अलि चञ्चल गुञ्जार रहे।

मत्त तरङ्गिणि !
वृत्तहीन-दिक्काल-विक्रीडित
तरलित तुङ्ग-तमाल-विचुम्बित
नभ वन-शिखर-विहारिणि
कब आओगी ?

ससारीनाथ—( अलग ) ओहो ! यह कविता सुन कर तो मेरी भी अब सामने जाने की हिम्मत पड़ गई। ( टहलता है )

टेसू—(धत्-धत् करता हुआ साहित्यानन्द पर फट पड़ता है) धत् ! धत ! धत् ! अरे ! आप हैं ? मै समझा कुत्ता भूँक रहा है। क्योंकि कुछ समझ तो सका नहीं, खाली भों-भों की सी आवाज़ मालूम हो रही थी।

[ संसारीनाथ सामने टहलता है, फिर भी ऐन मौकों पर अपना मुँह छिपा लेता है। ]

साहित्यानन्द—( घबडा कर ) ऐं ! कुत्ता कहाँ ? कहाँ ? मूर्ख कहीं का, यहाँ कुत्ता कहाँ है बे ?

टेसू—यही तो मुझे भी अब ताज्जुब है। मगर तब यह भूँकने की आवाज़ कहाँ से आ रही थी ? मैंने इस कान से अच्छी तरह से सुना था।

साहित्यानन्द—ओहो! वह कान—उहुँक कर्ण—तो तेरा प्रथम ही से भ्रष्ट है, तभी।

टेसू—तो क्या आप ही कुत्ते की बोली बोल रहे थे?

साहित्यानन्द—( चिढ कर ) कुत्ते की बोली नहीं बे। तनिक उच्च स्वर से स्वरचित कविता पाठ कर रहा था। जिसको सुनने के लिए उच्च अट्टालिकाओं पर न जाने कितनी ही साहित्यिक रमणियाँ लालायित होंगी।

टेसू—वह कविता थी? राम! राम!

साहित्यानन्द—हाँ-हाँ, कविता थी? हम ऐसे उच्च कवि-श्रेष्ठों की ऐसी ही कविता होती है।

टेसू—कैसी?

साहित्यानन्द—देख ऐसी। फिर से सुन ले—

मत्त तरङ्गिणि!
वृत्तहीन-दिक्काल-विक्रीडित
तरलित तुङ्ग-तमाल-विचुम्बित
नभ-वन शिखर विहारिणि
कब आओगी?

टेसू—( अलग ) वाह! वाह! भौं भौं भौं भौं कब आओगी? ( प्रकट ) इसके क्या मतलब?

साहित्यानन्द—पतलव? अहाहाहा! अरे मूर्ख, मतलब भी—उहुँक अर्थ—भी भला हम सरीखे कवि-सम्राटों की कविता का कहीं समझ में आ सकता है? वह कविता

ही क्या, जिसका अर्थ समझ मे आ जाय ? यदि कविता सभी की समझ मे आ जाय, तब उसके अर्थ-गौरव का भला महत्व क्या रह जायगा ? इसको केवल साहित्यिक व्यक्तिगण समझते हैं।

टेसू—यह बात है ? अच्छा, तो आपकी इस कविता का मतलब वह क्या समझेगे ?

साहित्यानन्द—समझेगे नही वे ! समझेगी कह। जिनको समझना है वह बड़ी विदुषी और बडी पण्डिता हैं। अपने लेखो मे तीन-तीन सतर के एक-एक शब्द प्रयोग करती है। वह बड़ी देर से दूरबीन लिए मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। तभी तो मैंने कहा है, हे नभ वन-शिखर विहारिणी अर्थात् अपनी उच्च अट्टालिका पर विहार करने वाली और अट्टालिका भी ( ज़ोर से राग मे पढ़ता हुआ )—

वृत्तहीन दिक्काल-विक्रीडित

तरलित तुङ्ग-तमाल-विचुम्बित

टेसू—( राग मिला कर ) चना जोर गरम... ..

साहित्यानन्द—यह क्या ?

टेसू—मै समझा इसके बाद आप यही कहेगे।

साहित्यानन्द—(बहुत बिगड कर मारने को झपटता हुआ) ठहर तो बदमाश ! तेरी ऐसी-तैसी करूँ !

[ टेसू भाग कर संसारीनाथ के पीछे छिपता है और उसको ढकेल कर अच्छी तौर से साहित्यानन्द के सामने कर देता है। अब

साहित्यानन्द संसारीनाथ को सर से पैर तक देखता है और उसके मत्थे पर हरा टीका देख कर एकाएक सटपटा जाता है। संसारीनाथ लापरवाही से वहाँ से हट कर फिर टहलने लगता है। )

साहित्यानन्द—अयँ ? यह भी हरा टीका लगाये हुए है।

टेसू—( पास आकर ) क्या आप मुझे मारना भूल गये ?

साहित्यानन्द—चुप रह, सब गड़बड़ होगया। अरे टेसू !

टेसू—कहिए-कहिए, मैं तो यहीं हूँ।

साहित्यानन्द—वह भी हरा टीका लगाये हुए है।

टेसू—जी हाँ। और आप से अच्छा।

साहित्यानन्द—( संसारीनाथ की ओर घूम-घूम कर देखता हुआ ) यह तो वही पाजी संसारीनाथ है।

टेसू—और घण्टों से वह यहीं चक्कर लगा रहे हैं।

साहित्यानन्द—क्या कहा, घण्टों से ? हाय ! तब तो सब चौपटाध्याय हो गया, अब क्या करूँ ?

टेसू—क्या हुआ क्या ?

साहित्यानन्द—( अपनी धुन में ) और यहाँ टहल—उहुँक भ्रमण—किस प्रकार कर रहा है, मानो मुझे जानता ही नहीं। ऐसी धृष्टता, ऐसी उद्दण्डता, ऐसी दुष्टता ?।

टेसू—किस पर आप इतना बिगड़ रहे हैं ?

साहित्यानन्द—( अपनी धुन में ) और उस पर हरा टीका लगा कर आया है। इस दुष्ट को हरा टीका लगा कर यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी ?

टेसू—तो उन्हे आप बुला कर पूछते क्यों नही ?

साहित्यानन्द—आह ! उससे बोलना तो और भी अपने को अपमानित करना है। क्या करूँ, कही वह धोखा न खा जायँ ?

टेसू—कौन ?

साहित्यानन्द—कुछ नहीं।

[ यदुनाथ और रमाकान्त का भेष बदल कर आना ]

यदुनाथ—( बुड्ढे के रूप मे संसारीनाथ को घूर कर देखता हुआ ) अच्छा आप ही हैं ?

रमाकान्त—( गँवार के रूप मे ) हाँ सरकार, ( संसारीनाथ को बता कर ) यही होयँ। जस तिलोत्तमा रानी बताइन हैं वइसे देखी। यह हरियर टीका लगाये हैं।

साहित्यानन्द—( ताज्जुब मे, अलग ) यह क्या ? तिलोत्तमा रानी। हरियर टीका ?

यदुनाथ—( चश्मा लगा कर, गौर से देखता हुआ ) हाँ-हाँ, आप ही हैं। मै तिलोत्तमा का पिता हूँ।

रमाकान्त—अउर हम सरकार के नौकर हन।

साहित्यानन्द—( अलग ) तिलोत्तमा के पिता और नौकर ? इन लोगों को उस पाजी संसारीनाथ से क्या प्रयोजन ?

टेसू—( साहित्यानन्द से ) वह लोग आप ही को समझ कर उनसे बोल रहे हैं। आपने देखा नही, इन लोगों ने

टीका ही देख कर उन्हे पहचाना है ? सुनिए, सुनिए, उनकी बातें तो सुनिए !

[ यदुनाथ और संसारीनाथ कभी चुपके-चुपके, कभी ज़ोर से बातचीत करते हैं और साहित्यानन्द और टेसू छिप कर इन लोगों की बातचीत सुनने की कोशिश करते हैं । ]

यदुनाथ—( ज़ोर से ) जी हाँ, मुझे तो आपके दर्शनों की तभी से लालसा थी, जब से आपने उसके लेखो को प्रकाशित कर साहित्य में उसका उत्साह बढ़ाया ।

[ संसारीनाथ चुपके-चुपके उत्तर देता है ]

साहित्यानन्द—( अलग ) हाय ! हाय ! यह तो सच-मुच मेरा भ्रम इस पाजी पर कर रहे हैं ।

यदुनाथ—तिलोत्तमा ने शायद आपका चित्र किसी पत्र या पत्रिका मे देखा होगा । तभी तो उसने कोठे पर से देखते ही आपको पहचान लिया । और जल्दी से आकर मुझे बताया कि वह देखिए, सम्पादक जी हरा टीका लगाये पार्क मे टहल रहे है । बस वैसे ही आपकी सेवा में लपका ।

साहित्यानन्द—( अलग ) अररररर ! तिलोत्तमा को भी इसी मूर्ख पर मेरा भ्रम हुआ । हाय ! हाय ! बड़ा अनर्थ हो गया ।

टेसू—आपका टीका दिखाई न पड़ा होगा । कैसे दिखाई पड़े ? एक तो बेचारे बुड्ढे आदमी, दूसरे ऐनक लगाये हुए ।

साहित्यानन्द—( घबड़ा कर ) हाय ! क्या करूँ ? इस भ्रम को कैसे मिटाऊँ ?

टेसू—मै बताऊँ, आप एक के बदले दो-तीन टीका लगा लीजिए, जिसमे कोई न कोई तो उन्हे दिखाई पड़ जाय ।

साहित्यानन्द—हाँ-हाँ, यह युक्ति ठीक होगी ।

[ जल्दी से रङ्ग की डिब्बी निकाल कर अपनी पेशानी पर दो-चार टीका लगाता है और यदुनाथ और रमाकान्त की तरफ़ मुँह बढ़ा-बढ़ा कर सामने करता है। मगर वह लोग ऐन मौक़ों पर दूसरी ओर मुँह फेर लेते हैं। तब साहित्यानन्द दूसरी तरफ़ जाता है। मगर उधर भी यही हाल होता है। ]

रमाकान्त—अब सरकार घर न चला जाय। तिलोत्तमा रानी जलपान के लिए आसरा देखत हुइहैं।

यदुनाथ—हाँ-हाँ। ( संसारीनाथ से ) आइए, अपनी चरण-धूलि से मेरी कुटी को पवित्र कीजिए। पास ही है।

साहित्यानन्द—( अलग ) हाय ! हाय ! यह पाजी अब मेरा ही सब आनन्द लूटने जा रहा है। क्या करूँ ? यह अनर्थ अब नही देखा जाता।

टेसू—घबडाने से काम न चलेगा। जल्दी से आप और टीके लगा लीजिए। अभी उन्हे दिखाई नहीं पड़ा।

साहित्यानन्द—अच्छा ! अच्छा ! मेरी तो बुद्धि इस समय कुछ काम नही करती, ले मैं अपने मुख भर मे टीका

ही टीका लगाये लेता हूँ। अब तो इन अन्धों को दिखाई पड़ेगा।

[ यदुनाथ, रमाकान्त और संसारीनाथ एक तरफ़ जाने लगते हैं। साहित्यानन्द अपने चेहरे भर मे बीसों टीका लगाये पागलों की भाँति दौड कर उन लोगों के सामने जाता है। वैसे ही वे लोग उधर से पलट कर दूसरी ओर हो जाते हैं। साहित्यानन्द दौड कर उधर जाता है। उधर भी यही हाल होता है। इसी बीच में टेसू के इशारे पर कुछ लडके आ पडते हैं। साहित्यानन्द को देख-देख कर वे हँसते हैं, और उसे आगे जाने नहीं देते। यदुनाथ वग़ैरह चल देते हैं।]

साहित्यानन्द—हाय! हाय! वह लोग चले गये। अरे दुष्टो! अरे पाजियो! मेरा मार्ग छोड़ो। आह!

[ साहित्यानन्द बौखला कर दूसरी ओर भाग जाता है और लडके उसके पीछे ताली पीटते और लू-लू करते जाते हैं। ]

( पट-परिवर्तन )

---

## चौथा दृश्य

[ स्थान—साहित्यानन्द के मकान का पिछवाड़ा ]

[ टेसू जल्दी-जल्दी एक बडा-सा पीपा, जिसका मुँह सामने की तरफ़ खुला हुआ है, लुढ़काता हुआ आता है। ]

टेसू—बस-बस, अब यहीं इसी मे छिप जाऊँ, नही पकड़ पायेंगे तो आज मार ही डालेंगे।

साहित्यानन्द—( नेपथ्य में ) कच्चा चबा जाऊँगा। मुण्ड-उण्ड, हस्त-पाद सब भङ्ग कर दूँगा।

टेसू—( पीछे की तरफ़ देख कर ) वह लो, वह सर पर पहुँच ही गये।

[ जल्दी से पीपे मे घुस कर सामने की तरफ़ मुँह कर लेता है। वैसे ही साहित्यानन्द एक खडाऊँ पहने और दूसरा खड़ाऊँ मारने के लिए हाथ में ताने हुए दौडता हुआ आता है। ]

साहित्यानन्द—( दौडता हुआ ) पाजी ने घर आते ही मेरी स्त्री से जड दिया कि आपके सम्पादक जी यानी मै, उपवन मे कोठेवालियों को गा-गाकर रिझा रहा था। इतना बड़ा विश्वासघात ? ( दाँत पीस कर ) अच्छा बचा, जितनी डाँटे तूने उस डाइन से खिलवाई हैं, सबकी कसर अभी निकालता हूँ। ( रुक कर इधर-उधर देखता हुआ ) परन्तु अरररर ! यहाँ तो वह पाजी दिखाई नहीं पड़ता। कहाँ गया, कहाँ ? मैंने उसको अपने दोनों—उहुँक उभय—नेत्रों से इसी ओर पलायन करते देखा है और इतनी ही दूर मे वह सशरीर अलोप हो गया ? आश्चर्य और घोर आश्चर्य है।

टेसू—( पीपे से झाँक कर ) जी हाँ।

साहित्यानन्द—( चौंक कर ) ऐ ? . कुछ नहीं । उस

चुड़ैल के प्रचण्ड कोलाहल से मेरी श्रवण-शक्ति अवश्य भ्रष्ट हो गई होगी। इसी हेतु हवा की सनसनाहट में भी मुझे मनुष्य की भनभनाहट ज्ञात होती है। हुआ ही चाहे, क्योंकि मैंने तो अपने द्वार पर पहुँचते ही उस पाजी टेसुआ को तिलोत्तमा के पिता को निमन्त्रित करने के लिए कहा था। ताकि वह यहाँ पधार कर मुझे भली-भाँति पहचान—उहुँक चीन्ह—ले। मेरी योग्यता को जान कर अपना भ्रम दूर कर सकें। मेरे आदर-सत्कारों से मुग्ध होकर अपने यहाँ जलपान करने के लिए मुझे बुलावें, उस लम्पट दुराचारी संसारीनाथ को नहीं। परन्तु वह दुष्ट तो वहाँ जाने के प्रथम ही न जाने कब घर मे ऐसी अग्नि लगा गया कि आँगन मे पैर रखते ही मैं भस्म हो गया। वह हत्यारिणी चपला की माँ व्याघ्रणी की भाँति उच्च नाद करती हुई ऐसी डौंकी कि श्रवण-शक्ति की कौन कहे, यहाँ सभी शक्तियाँ शिथिल पड़ गईं। यही बड़ा सौभाग्य था कि मेरे चरणों की द्रुतगति नष्ट होने से बच गई। अन्यथा गृह से उस समय बाहर निकलना दुर्लभ हो जाता। परन्तु अब तो घर मे जाना दुर्लभ है। क्योंकि उस दुष्टा ने मुझे बाहर करके घर के सभी द्वार बन्द कर लिये। अब तिलोत्तमा के पिता का किस प्रकार से आदर-सत्कार कर सकूँगा? क्या पहन-ओढ़ कर उन पर अपनी योग्यता और वैभव का प्रभाव डाल सकूँगा?

टेसू—( पीपे से झाँक कर ) लहँगा-ओढ़नी पहन कर।

साहित्यानन्द—ऐ फिर ? ( कान मल कर ध्यान से सुनने की कोशिश करता है। ) कुछ नहीं। हाँ ! सब चौपट हुआ ! बिगड़ी बात—उहुँक वार्ता—संशोधित होकर भ्रष्ट हो गई ? और यह सब उसी पाजी टेसुआ के कारण। इसी से तो शरीर मे अग्नि लगी हुई है। उस साले का मुण्ड बिना विदीर्ण किये मैं आज मानूँगा नही। इधर से गया है तो इधर ही से वह पुनः आगमन भी करेगा। इसलिए यहीं उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। संयोग से बैठने के लिए यह पीपा अच्छा प्राप्त हुआ। ( पीपा पर बैठना चाहता है )

टेसू—( पीपे से झाँक कर ) मगर ज़रा सम्हल कर बैठिएगा।

साहित्यानन्द—( चौक कर खडा होता हुआ ) क्या ? कौन है ? ... धत् तेरे की ! ( कानों को उँगली से साफ़ करता हुआ ) यह कानों का भ्रम रह-रह कर अद्भुत शङ्का उत्पन्न कर देता है। ( पीपे पर दोनों पैर एक ही तरफ़ लटका कर बैठता है। ) हाँ, क्या सोच रहा था ? विसर्जन कर गया। जाने दो—उहुँक—गमन करने दो। मैंने इसी उद्देश्य से पत्र निकाला था कि साहित्यिक ससार मे अपनी धाक जमाने के साथ शिक्षित महिलाओं के परिचय का सौभाग्य भी प्राप्त करूँ। विज्ञापन दे-देकर इन लोगों के लेख तथा फोटो इसी हेतु मँगवाता और निरन्तर प्रकाशित करता

आया कि इनको मुग्ध करके इनके प्रेम का आनन्द उठाऊँ और फिर उनमे से चुन कर सब से उच्च रूप, गुण तथा योग्यता वाली आदर्श रमणी से अपना साहित्यिक विवाह कर सकूँ।

टेसू—( पीपे से झाँक कर ) ओहो ! खयाल तो बड़ा अच्छा और अनोखा है। पैसा कमाने के लिए अखबार तो बहुतेरे निकालते हैं, मगर जोरू फँसाने के लिए अखबार निकालते इन्ही को देखा।

साहित्यानन्द—क्या-क्या-क्या ? ( उठ कर इधर-उधर देखता है, और स्टेज पर घूम कर चारों तरफ़ ग़ौर से देखता है ) कहीं पर कोई भी नहीं। परन्तु मनुष्य ही के समान कुछ शब्द सुनाई अवश्य पड़ा था। ओहो ! समझ—उहुँक—बोध कर गया। यह मेरे ही शब्दों की प्रतिध्वनि है, तभी स्पष्ट रूप से कर्णगोचर नहीं होती। अस्तु, अभी तक टेसुआ नहीं लौटा। अच्छा कभी तो आयेगा। ( आकर पीपे पर फिर वैसे ही बैठता है। ) हाँ, इतने परिश्रम के बाद भाग्य से एक आदर्श रमणी से पत्रों ही पत्रों मे प्रेम का आभास भी प्राप्त होने लगा था कि उसका आनन्द लूटने के समय वह साला—उहुँक जोरू का भ्राता—संसारीनाथ फट पड़ा। वह मेरे स्थान पर जाकर मेरा जलपान उड़ाये और मैं यहाँ बैठा हवा खाऊँ। उसके हिस्से मे रसगुल्ला, मोहन-भोग और मेरे हिस्से मे—उहुँक खण्ड मे—( जेब से कुछ

पत्र निकाल कर ) ये सञ्चित पत्र ? न भक्षण करने योग्य और न चाटने योग्य। उफ ! सोचते ही शूल की सी पीड़ा उठती है। एकान्त मे पाऊँ तो उस हरामजादे—उहुँक व्यभिचार-पुत्र—को ( दाँत पीस कर ) इतना मारूँ, इतना मारूँ, इतना ..

टेसू—पहिले अपनी तो खबर लीजिए।

[ टेसू पीपे से चुपके-चुपके अपने हाथों को निकाल कर ज़मीन पर टेक लगाता है और भीतर ही भीतर अपने धड से पीपा लुढका कर साहित्यानन्द को गिरा देता है। जब तक साहित्यानन्द ज़मीन पर चिल्लाता हुआ पडा रहता है, तब तक टेसू अपने हाथों की टेक से पीपा का मुँह पीछे की तरफ करके उसमें ज्यों का त्यों घुसा रहता है। ]

साहित्यानन्द—अरे ! बाप रे बाप ! अङ्ग-अङ्ग भङ्ग हो गये। हाय ! हाय ! मुण्ड भी विदीर्ण हो गया। ( उठता हुआ ) हत् तेरे पीपे की। साला स्वय ही लुढक गया। ( खडा होकर बदन झाड़ता हुआ ) मुझसे भूल हो गई, जो इस पर इस प्रकार बैठा था। यहाँ बैठने के लिए कोई अन्य उचित स्थान भी तो नहीं है। और टेसुआ को मारे बिना यहाँ से प्रस्थान करना भी ठीक—उहुँक शुद्ध—नहीं है। अपने द्वार पर जाकर प्रतीक्षा कर नही सकता। क्योंकि मेरी हत्यारिणी स्त्री द्वार बन्द किये हुए है। और मेरी ऐसी हीन दशा मे वहाँ तिलोत्तमा के पिता जो कही आ

पड़े तो आह ! न मुख दिखाते बन पड़ेगा और न मुख छिपाते । वह मुझे देख कर भला तिलोत्तमा से मेरे सम्बन्ध मे क्या कहेंगे ? हाय ! मेरी सारी प्रतिष्ठा उसकी दृष्टि मे भङ्ग हो जायगी । नही-नही, इस रूप में मुझे इस समय अपने द्वार पर जाने का साहस नहीं होता । जब तक टेसुआ नही आयेगा, तब तक वह चुड़ैल कदापि द्वार नहीं खोलेगी । इसलिए यही चुपचाप बैठे रहना उचित है । अच्छा, अब मैं इस पर इस भाँति बैठूँगा तब कैसे यह लुढ़केगा ।

( पीपे पर सामने की तरफ मुँह करके घोड़े पर बैठने की तरह बैठता है । वैसे ही यदुनाथ तिलोत्तमा के बाप के रूप मे आता है । )

यदुनाथ—अरे ! क्या सम्पादक जी आप ही है ?

साहित्यानन्द—कौन, तिलोत्तमा के पिता ? हाय ! हाय !

[ पीपे पर से उतरने की कोशिश करता है, मगर वैसे ही टेसुआ पीपे से अपना आधा धड निकाल कर, जो साहित्यानन्द के पीछे होने के कारण उसे दिखाई नही पडता, अपने हाथों के बल से अपने चारों तरफ़ घूमता है । उसके साथ-साथ पीपा भी ऊपर साहित्यानन्द को लिये हुए घिरनी की भाँति चक्कर खाने लगता है । ]

साहित्यानन्द—अरे ! अरे ! हाय ! बाप रे बाप ! यह क्या होने लगा ।

---

# तीसरा अंक

## पहला दृश्य

[ स्थान—धनीराम का मकान ]

[ धनीराम का बडबडाते हुए, डण्डा लिये निकलना ]

धनीराम—नाक मे दम है। न जाने यह कम्बख्त पागल कहाँ से आ गया है कि दो-तीन दिन से इसने आसमान सर पर उठा रक्खा है। जब देखो तब कभी अगवाड़े और कभी पिछवाड़े गला फाड़ कर न जाने क्या चिल्लाया करता है। कम्बख्त ने रात मे एक घड़ी सोना तक हराम कर दिया है। आज आवे तो बिना मारे छोड़ूँगा नही। दासी, ओ दासी, ज़रा एक गिलास पानी लाना !

दासी—( नेपथ्य में ) लाई सरकार !

[ दासी एक गिलास पानी लेकर आती है। धनीराम पानी पीता है ]

धनीराम—( गिलास देता है ) दो पान भी दे जाना।

दासी—अभी सरकार बाज़ार से पान लाई नही। मसाला पीस लूँ तो जाऊँ।

धनीराम—अच्छा।

[ दासी गिलास लेकर अन्दर जाती है और धनीराम सोचता और बडबडाता हुआ टहलता है ]

धनीराम—उस बेवकूफ को चिल्लाने के लिए दुनिया मे कहीं और जगह नही है, जो अदबदा कर मेरी ही खोपड़ी पर आकर बम्बाता है? और तारीफ यह कि बड़े राग और सुर मे, गोया अपने हिसाब कोई कविता पढ़ता है। तेरी कविता की ऐसी तैसी करूँ।

[ यदुनाथ अपने असली रूप में आता है ]

यदुनाथ—क्या है बाबू धनीराम? आज किस पर आप इतना बिगड़े हुए हैं?

धनीराम—क्या बताऊँ, उस खब्तुलहवास ने तो घर भर को परेशान कर रक्खा है, जो उस दिन जब तुम अपने बनावटी रूप मे हम लोगों को धोखा देने आये थे, तुम्हारे पीछे-पीछे यहाँ तक आया था और जिससे तुम अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए जल्दी से मेरे मकान मे घुस गये थे?

यदुनाथ—अच्छा। क्या किया उसने?

धनीराम—अजी उसी दिन से जहाँ ज़रा शाम हुई कि यहाँ आकर मेरे मकान का चक्कर लगाता है और आधी-आधी रात तक न जाने क्या गा-गाकर बका करता है।

यदुनाथ—ओहो! यह तो बड़े मज़े की खबर है। यही तो मैं आप से जानने आया था कि वह आदमी फिर इधर कभी दिखाई पड़ा था या नहीं।

धनीराम—बस, आज वह आख़िरी दफे दिखाई पड़ेगा—देखते हो यह डण्डा।

यदुनाथ—हाँ-हाँ, कहीं ऐसा गज़ब भी न कीजिएगा। सारा मज़ा किरकिरा हो जायगा।

धनीराम—भाड मे जाय ऐसा मज़ा।

यदुनाथ—भाई वह कोई पागल नहीं, बल्कि सम्पादक है। ज़रा आजकल उसका दिमाग़ हम लोगों ने × × ×

धनीराम—तो हमसे क्या मतलब? हम कारबारी आदमी अपना लेखा-बही छोड़ कर कभी कोई चीज़ पढ़ी नहीं। हम सम्पादक-टम्पादक क्या जानें?

यदुनाथ—आपसे मतलब न हो न सही, आपकी कोठी से तो उसे मतलब है, जिसमे वह समझता है कि उसकी प्रेमिका रहती है।

धनीराम—क्या? क्या? क्या वह बदमाश × × ×

यदुनाथ—नहीं-नहीं, बिगड़ने की बात नहीं, बल्कि हँसने की है। उसे हम लोगों ने मार-मार कर तिलोत्तमा नामक एक ख़याली लड़की का आशिक बना दिया है और उसी लड़की का, उस दिन मै भेष बदले हुए, बाप बना हुआ था। मैंने उस दिन ताड़ा कि वह मेरा पीछा करके

मेरे मकान का पता जानना चाहता है। पार्क के सामने आपकी बड़ी सी कोठी दिखाई पड़ी। बस, झट बन्दा उसी में घुस कर अपने असली रूप से फिर निकल गया। इसीसे वह इसे तिलोत्तमा का मकान समझ कर इसका चक्कर लगाता होगा। और तारीफ यह कि मैं अब तक उसे इस भ्रम मे भी डाले हुए हूँ कि मै और तिलोत्तमा दोनों ही अभी उसके सम्पादक होने में शक करते हैं।

धनीराम—उसे भ्रम में डालो या चूल्हे मे झोंको। मेरे सर तुमने यह आफत क्यों ढकेली?

यदुनाथ—भाई हर काम मे कुछ बाहरी ठाट-बाट की जरूरत पड़ती है। वह बिना धनी लोगों के सहयोग के पूरा नही उतरता। अगर इस मामले में आपकी कोठी की मदद न लेता तो तिलोत्तमा की धाक उस पर अच्छी तरह से जमाने के लिए मेरे पास ऐसी कोठी कहाँ से आती?

( साहित्यानन्द नेपथ्य मे चिल्ला कर कविता पढ़ता है )

प्राणे प्राण हृदय हृदये तुम,<br>
श्वरी बल्लभा मेरी।<br>
नस-नस गाती गीत सदा है<br>
पद्मलोचना तेरी॥

धनीराम—वह लो, आ गया। सुनो और समझो तुम्हीं, क्या कह रहा है। बस इस वक्त से इसी तरह चिल्ला-चिल्ला कर नाक मे दम करता है।

यदुनाथ—वाह ! वाह ! "श्वरी वल्लभा मेरी"। अजी भाई साहब, इसको आप चिल्लाहट कहते हैं ? इसका आनन्द तो लीजिए। ऐसी कविताएँ ज़िन्दगी मे सुनने को भला कहाँ नसीब होती हैं ?

धनीराम—क्या बताऊँ, तुम न आ जाते तो इसी डण्डे से आज अच्छी तरह आनन्द लेता। ( अपने घर की तरफ़ मुँह करके ) अरी दासी, पान लाने तू अभी तक बाज़ार नहीं गई ?

दासी—( नेपथ्य में ) जाती हूँ सरकार, ज़रा हाथ धो लूँ।

धनीराम—अच्छा आओ, भीतर चल कर बैठे।

यदुनाथ—हाँ-हाँ, ज़रा मुझे भी सूरत बदलने का मौका मिल जाय।

[ दोनों का मकान मे जाना और वैसे ही साहित्यानन्द का बाहर से आना ]

साहित्यानन्द—उस दिवस जब तिलोत्तमा के पिता मेरे यहाँ पधारे थे, तो मेरी कङ्कालिनी स्त्री ने मेरे सैकड़ों, उहुँक—शत-शत उद्योग करने पर भी गृह का द्वार नहीं खोला। इसी हेतु मै उन्हे अपने सम्पादकीय कार्य का कुछ भी परिचय नहीं दे सका। अन्यथा उन्हे अवश्य विश्वास पड़ जाता कि मैं ही सम्पादक हूँ। तब से मै बराबर—उहुँक—क्रमशः उनके द्वार पर आकर नित नवीन स्व-रचित

कविताओं द्वारा अपनी विलक्षण योग्यता की उच्च स्वर मे घोषणा करता हूँ, जिसमे उन पर तथा तिलोत्तमा पर मेरी साहित्यिक योग्यता का प्रभाव पड़ कर, उनका भ्रम मिटे और वे दोनों ज्ञात करें कि मै ही असली सम्पादक—उहुँक मूल सम्पादक—हो सकता हूँ और वह पाजी संसारी-नाथ, जो मेरे स्थान पर आरूढ होकर उन लोगों को धोखा दिये हुए है, बिल्कुल नकली—उहुँक—छाया, हाँ छाया सम्पादक है। परन्तु खेद! मेरे नित-नित आने पर भी उनके दर्शन नही होते। इससे यही बोध होता है कि अभी तक मेरी कविता उन लोगों के कर्णगोचर नहीं हुई। अच्छा, इस बार-तनिक और उच्च स्वर से पाठ करता हूँ—

प्राणे प्राण हृदय हृदये तुम,
श्वरी बल्लभा मेरी।

[ दासी का मकान से बाहर निकलना और साहित्यानन्द को देख कर ठिठकना ]

साहित्यानन्द—( अलग ) अरे! धन्य भाग! अन्त मे मेरी कविता पर मुग्ध होकर स्वयं तिलोत्तमा ही निकल पडी। अवश्य वही हैं। तभी तो मेरी कविता का मर्म समझ कर बावली-सी हो रही हैं। अन्य कोई हम-ऐसे उच्च कवि-गण की कविता पर मुग्ध होना क्या जाने? आहा!! यह मेरी कविता का प्रभाव है कि यह ऐसी उन्मादिनी हुई कि मलिन वस्त्र धारण किये ही बहिर्गत हो गई। वाह रे हम!

दासी—( अलग ) यह मुआ रास्ते मे खम्भा सा अड़ा खड़ा है। मै बाजार कैसे जाऊँ ?

साहित्यानन्द—आहा ! आप मुझे सम्बोधन कर रही हैं ? क्षमा कीजिए, मै सुन न सका। जी हाँ, मै ही सम्पादक हूँ। तभी तो इतनी उच्च कोटि की कविता रच सका, जिसका मर्म आप तो अपने योग्यता-बल से बोध कर ही गई होंगी, तथापि उसके गुणों का बखान मेरे मुख से भी सुन कर उसकी शोभा निरखिए, ताकि मेरे विषय मे तनिक भी सन्देह न रह जाय। बिना टीका-टिप्पणी के हम ऐसे उच्च कवियों की कविताओं मे आनन्द भला कहाँ मिलता है ?

दासी—( अलग ) यह मुआ रास्ते से हटेगा या नहीं ?

साहित्यानन्द—जी हाँ, इसमे शब्द-लालित्य और अलङ्कार-शोभा दोनों ही है। देखिए, हृदयेश्वरी और प्राण-बल्लभा के पद मे प्रथम अश कहाँ है और द्वितीय अश कहाँ है। एक आकाश मे है तो दूसरा पाताल मे। सुनिए—

प्राणे प्राण हृदय हृदये तुम,
श्वरी बल्लभा मेरी।

देखा ? और तारीफ यह—उहुँक—प्रशसा यह है कि 'श्वरी' और 'बल्लभा' को चाहे प्राणे और प्राण से जोडिए, चाहे हृदये और हृदय से। दोनों ही शब्द पद मे हैं। यही तो इसमे शब्द-लालित्य है।

इसका प्रथम अन्वय कर लीजिए, तब वाक्य का यथार्थ रूप ज्ञात हो सकता है। वैसे नहीं। यही विशेषता तो हम ऐसे कवि-सम्राटों के पदों मे होती है। यदि हम लोग ऐसा न करे तो फिर गद्य और पद्य मे भेद ही क्या रह जाय ? अच्छा अब अलङ्कार-शोभा का भी रसास्वादन कर लीजिए।

नस-नस गाती गीत सदा हैं,

पद्मलोचना तेरी।

अर्थात् जिस भाँति सारङ्गी के तार सङ्गीत उत्पन्न करते हैं, उसी भाँति पद्मलोचना! तेरी नसे गान करती हैं। कैसा अद्भुत और वास्तविक अलङ्कार है, क्योंकि सच पूछिए तो नसों से ही ताँत बनती है। और ताँत से भी बजाने पर तार के समान ध्वनि प्रकट की जा सकती है। आहा! कैसा गुप्त भाव है।

[ यदुनाथ अपने बनावटी रूप में मकान से निकलता है ]

साहित्यानन्द—कौन, तिलोत्तमा के पिता ? ओहो! आज मानो बड़े अच्छे—उहुँक—महान सुन्दर का मुख देख कर चला था। सौभाग्य ही सौभाग्य। आहा! ( आवेश मे आगे बढ़ जाता है )

यदुनाथ—( अनसुनी करता हुआ ) क्यों दासी, तू किससे बाते कर रही है ?

दासी—मै क्या करती, यही रास्ता घेरे खड़े थे।

साहित्यानन्द—अरे! यह दासी है। राम! राम! छिः! छिः!

[ दाँतों से उँगली दबाये, सर झुका लेता है। वैसे ही दासी रास्ता पाकर चल देती है और दूसरी तरफ़ से यदुनाथ बाहर की ओर जाता है। ]

साहित्यानन्द—( अकेला पश्चात्ताप के भाव मे, वैसे ही सर झुकाये हुए ) हत् तेरे की! मेरा सकल परिश्रम व्यर्थ गया। आज की मेरी सारी कविता ही नष्ट हो गई। हाय! हाय! ( जिधर दासी खडी थी, उधर बढ़ता हुआ ) क्यों री मूर्खा, जब तू दासी थी तब तूने मुझे प्रथम ही क्यों नही बता कर सचेत कर दिया? दुष्टा, मूर्खा, धूर्ता—( स्थान ख़ाली देख कर ) परन्तु अरे! यह तो है ही नहीं। ऐसी पाजी है कि बिना सूचना दिये ही खिसक गई। ( घूम कर उधर बढता हुआ जिधर यदुनाथ खडा था ) भगवन्! मै दासी से आप ही के विषय मे पूछ रहा था कि आप गृह मे सुशोभित हैं या नही। क्योंकि उस दिन मेरा गृह बन्द होने के कारण आपको विश्वास न हो सका कि वह सम्पादकीय भवन मेरा है और मैं ही उसका सञ्चालक जी तथा सम्पादक जी हूँ। अतएव उसी भ्रम के मिटाने के हेतु मेरे अनेक बार आने पर भी आपका साक्षात् नहीं प्राप्त हुआ था। ( स्थान ख़ाली पाकर इधर-उधर देखता हुआ ) अरे! लो यह भी मानो अभ्यन्तर प्रवेश कर गये। ओहो! साहित्यिक भाषा बोलने

में ध्यान शब्दों ही पर बना रहा। इसी से पता नहीं चला कि कब यह अभ्यन्तर गमन कर गये। अब क्या करूँ। कविता पढ़ूँ या पुकारूँ? दोनों ही कार्य करूँ। आज तो वह गृह मे हैं ही। ( द्वार पर पुकारता हुआ ) महोदय, महोदय, श्रीमान्, भगवन्, महानुभाव ..

( नेपथ्य मे )—"कौन है?"

साहित्यानन्द—( अलग ) बस-बस, अब झट से कविता पढ़ दूँ जिसमे उनका ध्यान आकर्षित हो जाने से वह उनके कर्णगोचर होकर उन पर अपना प्रभाव तुरन्त डाल दे। ( चिल्ला कर पढ़ता हुआ )

प्राणे प्राण हृदय हृदये तुम—

[ धनीराम डण्डा लिये गुस्से मे मकान से बाहर आता है ]

धनीराम—( आते ही मारने को झपटता हुआ ) फिर लगे तुम शोर मचाने?

साहित्यानन्द—( भागता हुआ ) अररर! यह कौन निकल पड़ा? हाँ-हाँ, यह क्या? मै शोर नही मचाता। कविता पढ़ रहा हूँ कविता। सम्मेलनों में लोग कविता पढ़ते हैं प्रचारार्थ। पत्रिकाओं मे प्रकाशित कराते हैं, काहे के लिए, बस प्रचारार्थ। और मैंने निज कण्ठ-ध्वनि से इस भाँति कविता-प्रचार करने की यह नवीन युक्ति निकाली है, जिसमे शिक्षित-अशिक्षित दोनो ही इसका आनन्द ले सकें। यह तो देखिए।

धनीराम—( मारने के लिए पीछा करता हुआ ) अच्छा, इसका पुरस्कार भी तो लेते जाओ। तेरी कविता की ऐसी-तैसी। अब तक न जाने मैं कैसे सब्र करता आया। तेरे बदमाश की। जरा ठहर तो जा।

साहित्यानन्द—हाय ! हाय ! अब नहीं भागा जाता। अरे बाप रे बाप !

[ धनीराम मारता-मारता साहित्यानन्द को भगा ले जाता है ]

( पट-परिवर्तन )

---

## दूसरा दृश्य

[ स्थान—रास्ता ]

[ टेसू एक किताब लिए तेजी से आता है और बजरबट्टू उसका पीछा करता हुआ आता है ]

बजरबट्टू—अरे ! टेसू टेसू टेसू टेसू टेसू—

टेसू—( दूसरे किनारे तक पहुँच कर एकाएक घूम पड़ता है और पहले किनारे तक जाता हुआ ) क्या है बाबू बजरबट्टू बट्टू बट्टू बट्टू बटट्ट—

बजरबट्टू—( पिछड़ता हुआ ) अयँ ? अयँ ? अबे जरा जबान रोक के बातें कर। बता सम्पादक जी कहाँ हैं ?

टेसू—चूल्हे मे।

बजरबट्टू—यह क्या ?

टेसू—तब मैं क्या जानूँ वह कहाँ हैं ? अब मुझसे उनसे मतलब ?

बजरबट्टू—क्यों ?

टेसू—क्योंकि अब मैं उनके यहाँ नौकर नहीं हूँ। मैं अब रामलीला-मण्डली में काम करता हूँ, जिसके मन्त्री बाबू यदुनाथ राय हैं। उसी के लिए यह देखिए ( किताब दिखा कर ) अपना पार्ट याद करने जाता हूँ।

[ चल देता है ]

बजरबट्टू—( अकेला ) अजब मुश्किल है। अब क्या करूँ ? ऐसे सम्पादकों से ईश्वर बचाये, जो लेख लेते वक़्त लेखकों के द्वार खटखटाते-खटखटाते दरवाज़ा तोड़ डालते हैं, मगर पुरस्कार देने के वक़्त ढूँढ़े से भी नहीं मिलते।

[ रामदयाल का बड़बड़ाते हुए आना ]

रामदयाल—साला सम्पादक बना है। जन्म भर का दग़ाबाज़ कहीं का। जब लेख लिखवाना था तो कहा कि फ़ी पेज मैं पुरस्कार........इस हिसाब से दूँगा। जब देने की बारी आई तो महीनों दौड़ाने के बाद अब कहता क्या है कि हमने किताब वाला पेज थोड़े ही कहा था, हमारे यहाँ साढ़े तीन हाथ के आदमी के कद के बराबर पूरे तख़्ते भर काग़ज़ का एक पेज गिना जाता है। तेरे बेईमान की।

बजरबट्टू—लो, एक से दो हुए। अरे भाई राम-

दयाल, मै भी तो यही रोना रो रहा हूँ। ख़ैर, तुमसे उसने इतना भी कहा, मगर मुझसे तो वह मिलता ही नहीं। मिले तो बताऊँ, कि पुरस्कार नापने वाला पेज कितना बड़ा होता है।

रामदयाल—अजी यह सब न देने के बहाने हैं। ऐसे पुरस्कार पर लानत है।

बजरबट्टू—पहले यह तो बताओ, वह है कहाँ? मैं हूँ बजरबट्टू, क्या मुफ्त थोड़े ही दिमाग़ का पसीना बहाया है?

रामदयाल—क्या इसके लिए तुम दावा करके सभों की निगाहों मे अपने को गिराओगे कि यह भी पुरस्कार लेते हैं।

बजरबट्टू—अरे! इसमे ज़िल्लत की कौन सी बात है? क्या भीख थोड़े हो माँगता हूँ। सभी दिमाग़ी पेशे वाले अपनी-अपनी मिहनत के दाम लेते हैं। एक वकील अपनी योग्यतानुसार बिना फीस लिए ज़बान तक नहीं हिलाता, तो इस पेशे वाले अपनी उजरत क्यों न ले? क्या इनके मुँह नहीं कि पेट नहीं होता या यह लोग ख़ाली हवा पीकर जीते हैं? अच्छा दावा-फावा तो बाद को देखा जायेगा, पहिले मै तो उनसे निबट लूँ। आओ ज़रा चल कर बताओ हैं कहाँ?

रामदयाल—मारो गोली, ऐसे बेईमानों का मुंह देखना भी पाप है।

बजरबट्टू—मगर इनको ठीक करना सब से बड़ा धर्म भी है, ताकि वह दूसरों के साथ फिर ऐसा बर्ताव न कर सके। यह तुम्हीं लोगों के दब्बूपन से बेईमान बने हुए हैं। आओ चलो।

[ पकड़ ले जाता है और दूसरी तरफ़ से साहित्यानन्द आता है ]

साहित्यानन्द—पुरस्कार-याचकों के मारे रास्ता चलना मुश्किल—उहुँक—मार्ग गमन करना कठिनतर है। भला, पुरस्कार कभी दिया भी जाता है कि मै ही दूँ। ये मूर्ख इतना नही बोध करते कि पुरस्कार कदापि देने की वस्तु नहीं होती। यह शब्द तो सिर्फ़—उहुँक मात्र—लेखकों को उत्साहित कर लेख लिखवाने के लिए प्रयोग किया जाता है। बस इसके अतिरिक्त इस शब्द का कुछ भी अर्थ नहीं।

[ पोस्टमैन का आना और साहित्यानन्द को एक ख़त देकर जाना ]

साहित्यानन्द—( ख़त देखता हुआ एकाएक ख़ुशी से उछल कर ) ओहोहो ! यह तो तिलोत्तमा का कृपा-पत्र है। इस बार बड़ी उत्कण्ठापूर्ण प्रतीक्षा के उपरान्त मिला। ( जल्दी-जल्दी फाड़ कर पढ़ता हुआ ) "सम्पादकाधिराज हृदयनाथ"—बाप रे बाप ! एकदम हृदयनाथ मुझको लिख दिया। ( प्रेम-उमङ्ग से छाती पीट कर ) हाय ! हाय ! मारे आनन्द के हृदय फुदकने लगा। ओहोहो ! ( ख़त कलेजे से लगाता हुआ ) अरी प्यारी ! ( इधर-उधर देखता हुआ ) कहीं साला टेसुआ न देखता हो कि जाकर मेरी कङ्कालिनी से कह दे। ( ख़त

लेकर एक किनारे पर जाता है ) यहाँ पढ़ूँ। ( फिर इधर-उधर देख कर ) नहीं, यहाँ ठीक नहीं। ( दूसरे किनारे पर जाकर ) यहाँ। ( पढता हुआ ) "प्राणेश्वर" ! ओहोहो ! ( नाचता हुआ ) मुझको प्राणेश्वर भी लिखा। उसके पिता मेरे सम्बन्ध मे चाहे भ्रम मे पड़े रहे या भाड़ मे, वह तो भ्रम मे नहीं है। मुझे प्राणेश्वर भी लिखती है। ( इधर-उधर देख कर वहाँ से हट जाता है ) यहाँ पढ़ूँ। ( ख़त को देख कर चौंक कर फिर इधर-उधर देखता है ) धत् तेरे की ! अब टेसुआ साले का भय कैसा ? उसको तो कई दिन हुए मै निकाल चुका हूँ। ( पढता हुआ ) "जिस दिन आप मेरे यहाँ जलपान करने आये थे और आपने मेरे हाथ से पान खाया था, उसी दिन से मेरी दशा विचित्र है। यही जी चाहता है कि मैं सदा आपका चन्द्र-मुख, जिस पर उस दिन हरा टीका शोभायमान था, निरखा करूँ।" ( साहित्यानन्द का मुँह सूख जाता है ) अररर ! यह क्या ? मैं कहाँ उसके यहाँ जलपान करने गया था। वह तो मेरे स्थान पर ससारीनाथ गया था। हाय ! तो क्या वह भी भ्रम मे पड़ी ? यही नहीं, वरन् उस मूर्ख पर मुझे समझ कर मोहित भी हो बैठी ? अनर्थ ! अनर्थ !! महा अनर्थ !!! उस पाजी ने उसके हाथ से पान खाने—उहुँक भक्षण करने—का आनन्द भी प्राप्त कर लिया। हाय ! हाय ! ऐसी धृष्टता ? साले का प्राण ले लूँगा। ( क्रोध और डाह से काँपता हुआ )

और देखूँ उसने क्या किया। ( ख़त की तरफ़ पढ़ने के लिए देखता है )

[ बजरबट्टू और रामदयाल का आना ]

रामदयाल—वह देखिए वह हैं।

बजरबट्टू—अजी सम्पादक जी, जय राम जी की! ( कुछ जवाब न पाकर ) ओहो! पुरस्कार देते वक़्त सम्पादक जी बहरे भी बन जाते हैं। ( साहित्यानन्द को हिला कर ) अजी सम्पादक जी कहिए, मिज़ाज कैसा है?

साहित्यानन्द—( चौंक कर देखता है, फिर सँभल कर ) कौन लेखक, बजरबट्टू?

रामदयाल—जी हाँ, और रामदयाल भी।

[ साहित्यानन्द वहाँ से हट कर फिर ख़त पढने की कोशिश करता है ]

बजरबट्टू—( साहित्यानन्द को बेदर्दी से हिला कर ) अजी मै आपका मिजाज पूछता हूँ मिज़ाज।

साहित्यानन्द—मिज़ाज—उहुँक स्वभाव—हाँ स्वभाव उत्तम है। अपना कहिए। ( फिर ख़त की तरफ़ देखता है )

बजरबट्टू—ओहो! अब ऐसी उदासीनता? क्यों सम्पादक जी ( ख़त एकाएक छीन कर ) इसे क्या देखते हैं। ज़रा मेरी तरफ तो देखिए।

साहित्यानन्द—अरे! वह बडा महत्वपूर्ण पत्र है। उसे मुझे दीजिए।

बजरबट्टू—मेरा भी आपसे बड़ा महत्वपूर्ण काम है।

साहित्यानन्द—परन्तु इस समय मुझे अवकाश नही है। क्षमा कीजिए।

बजरबट्टू—अभी अवकाश हुआ जाता है। इस साले को फाड़ के फेके देता हूँ।

साहित्यानन्द—हाँ-हाँ-हाँ, ऐसा अनर्थ न कीजिएगा।

बजरबट्टू—तब सीधी तरह से मेरी बात सुनिए। आप जानते है कि मै चचा बजरबट्टू हूँ। मुझे भी आपके यहाँ बार-बार आने का अवकाश नही रहता।

साहित्यानन्द—अच्छा कहिए।

बजरबट्टू—( ख़त देकर ) इसको तो रखिए जेब मे और मेरा पुरस्कार चुपके से ढीला कीजिए। बस यही काम है।

साहित्यानन्द—क्या कहा, पुरस्कार ? आहाहाहा ? क्या आप लोग भी पुरस्कार लेगे ? ऐसा न कहिए। आप लोग तो अमीर आदमी हैं। बड़ी-बड़ी कोठियाँ है।

बजरबट्टू—जिसके यहाँ से आप काग़ज लेते हैं वह तो मुझसे भी अमीर है, जिसके यहाँ आप अखबार छपाते हैं उसकी कोठी शहर मे सबसे बड़ी है।

साहित्यानन्द—हाँ-हाँ।

बजरबट्टू—तो इसी नियम के अनुसार उन लोगों के भी दाम न देते होंगे ?

साहित्यानन्द—नहीं-नहीं-नहीं। परन्तु पुरस्कार की बात—उहुँक वार्ता—और है। इसको उद्योगी और धनाढ्य लेखक लेना अपमान समझते हैं। इसी हेतु पत्र के नियमों में स्पष्ट रूप से लिखा होता है कि "जो पुरस्कार लेना चाहे उनको पुरस्कार भी दिया जाता है।" अर्थात् सबको नहीं दिया जाता।

बजरबट्टू—मुझे वैसा बेवकूफ न समझिएगा, जो ईमानदारी और मिहनत की कमाई को इज्जत की नज़रों से न देखे।

साहित्यानन्द—परन्तु पुरस्कार तो हम केवल पुरस्कृत्य लेखों पर देते हैं।

रामदयाल—अब आये दूसरे रङ्ग पर। देखा? गोया आप दो ही चार लेख पढ़ने योग्य छापते हैं, बाकी पाठकों को धोखा देने के लिए अख़बार मे कूड़ा-कर्कट भरते हैं। तभी तो पुरस्कृत्य और अपुरस्कृत्य का आपने झगडा उठाया। शायद आप छपाई और कागज़ के दाम भी इसी तरह देते होंगे। जिसे आप पुरस्कृत्य समझते होंगे उसकी छपाई दी जाती होगी, जिसे नही उसकी नहीं—क्यों सम्पादक जी?

साहित्यानन्द—ऐसा तो होना ही चाहिए, परन्तु मुद्रक और विक्रेता यह स्वीकार करें तब तो!

रामदयाल—तब क्या आपने लेखकों ही को उल्लू

समझ रक्खा है, इन्ही की कमाई मारने के लिए पुरस्कृत्य-फुरस्कृत्य का झगड़ा निकाला जाता है ? लेख पढ़ने क़ाबिल नहीं होता तो उसे आप छापते क्यों हैं ? जब छापा तो उसके दाम दीजिए। छपाई के दाम तो भले ही देते हैं, लिखाई के दाम देने मे क्यों नानी मरती है ?

साहित्यानन्द—आपने तो कहा था कि हम पुरस्कार नहीं लेगे।

रामदयाल—बेशक ! जब आपने पुरस्कार नापने वाला पेज साढे तीन हाथ का बताया था, ताकि मै चिढ़ कर अपना पुरस्कार छोड़ दूँ। पढ़ने के पेज, पेज के बराबर; मगर पुरस्कार देने के वक्त पेज आदमी के बराबर ? ऐसा अन्धेर ?

बजरबट्टू—सुनिए सम्पादक जी। मैं हूँ बजरबट्टू। आप ऐसे न जाने कितने सम्पादकों से पाला पड़ चुका है। चुपके से मेरी मिहनत के दाम दीजिए और यह ढकोसले-बाज़ी अपने घर रखिए।

साहित्यानन्द—अच्छा-अच्छा, जब हिसाब होगा तब दाम दिया जायेगा।

[ जाना चाहता है ]

बजरबट्टू—( साहित्यानन्द को पकड़ कर ) चले कहाँ, हिसाब होते कितनी देर लगती है। सीधे-सीधे कॉलम गिन लीजिए।

साहित्यानन्द—वाह! वाह! पढ़ने और छापने के लिए पत्र-पत्रिकाओं का एक कॉलम—उहुँक खण्ड—ज होता है वह पुरस्कार का हिसाब लगाने के लिए पूरा एक खण्ड नहीं माना जाता; क्योंकि उनमे सैकड़ों पंक्तियाँ छोटी होती हैं। इसीलिए उनका हिसाब बड़ा टेढ़ा—उहुँक महान वक्र—तथा कई मास मे समाप्त होता है?

वजरबट्टू—ठहरिए-ठहरिए, मै अभी आपका सारा हिसाब-किताब ठीक किये देता हूँ। तेरे बेईमान की!

[ वजरबट्टू और रामदयाल साहित्यानन्द को खूब मारते हैं ]

साहित्यानन्द—अरे बाप रे बाप! अरे बाप रे बाप! मर गया।

[ यदुनाथ अपने बनावटी भेष में आकर छुड़ा देता है ]

यदुनाथ—हाँ-हाँ, इस बेचारे को क्यों मारे डालते हो?

साहित्यानन्द—हाय! मार डाला। बहुत मारा। कौन तिलोत्तमा के पिता? आहा! खूब आये—उहुँक—सुन्दर आये। हाँ-हाँ, इन सभों से पूछिए कि मैं सम्पादक हूँ कि नहीं।

रामदयाल—कौन, यह बेईमान? भला यह सम्पादक होने लायक है? यह सम्पादक नही, यह चोट्टा और उठाईगीर है।

[ गुस्से मे चल देता है ]

साहित्यानन्द—( सटपटा कर ) अयँ ? नहीं-नहीं, मैं उठाईगीर नहीं, सम्पादक हूँ सम्पादक। इनसे पूछिए इनसे। ( बजरबट्टू ) भाई मारा तो मारा। आह ! बहुत चोट लगी है। मै पुरस्कार दूँगा। परन्तु इन्हे जल्दी से बता दो कि मैं सम्पादक हूँ। दूँगा पुरस्कार दूँगा।

बजरबट्टू—चलो-चलो, मैं मारने का पुरस्कार नही लेता। क्या बताऊँ, यह आ गये नहीं तो बताता। अच्छा फिर सही।

[ चल देता है ]

साहित्यानन्द—अररररर ! यह भी बिना बताये चला गया। महानुभाव विश्वास कीजिए, मैं ही सचमुच सम्पादक हूँ।

यदुनाथ—अगर आप सम्पादक हैं तो ये लोग गिद्ध की तरह लिपटे मारते क्यों थे ?

साहित्यानन्द—पुरस्कार के लिए।

यदुनाथ—और आपने नही दिया ?

साहित्यानन्द—देता तो मारा क्यों जाता ? सम्पादक होकर मैं कही ऐसी गलती—उहुँक अशुद्धि—कर सकता था ?

यदुनाथ—तब तो आप सम्पादक, आपके बाप सम्पादक और आपके सात पुश्त सम्पादक हैं। मार तक खा लिया, मगर पुरस्कार नही दिया। सम्पादक हो तो ऐसा

हो। अब आपके सम्पादक होने मे तनिक भी सन्देह नही है।

साहित्यानन्द—( ख़ुशी से ताली बजा कर ) ओहो! तब तो मार खाना आज मेरा सफल हो गया। वाह! वाह! अब तो आपको विश्वास हो गया न, कि मैं सम्पादक हूँ। अरे आप रोने—उहुँक—रुदन क्यों करने लगे?

यदुनाथ—( रूमाल से आँख पोंछता हुआ ) आह धोखा खा गया! बड़ी देर के बाद मेरा भ्रम दूर हुआ। क्या करूँ। हाय अब पछताते नही बन पड़ता।

साहित्यानन्द—क्या हुआ क्या भगवन्? बताइए।

यदुनाथ—मेरा दुर्भाग्य और तिलोत्तमा की कामनाओं की आहुति।

साहित्यानन्द—क्या-क्या-क्या?

यदुनाथ—तिलोत्तमा की साहित्यिक योग्यता देख कर मेरी हार्दिक कामना थी कि मैं उसे किसी सम्पादक ही से वरूँगा। और उसकी भी यही इच्छा थी। इसीलिए भ्रम मे पड़ कर मैंने उस आदमी के साथ, जिसे अब तक मैं सम्पादक समझता था, तिलोत्तमा के साथ विवाह करने का वचन दे दिया। अब जाना कि वह नही, आप सम्पादक हैं। आह! क्या करूँ। कुछ समझ मे नहीं आता।

[ पछताता हुआ जाता है ]

साहित्यानन्द—हाय! यह क्या। सब किया धरा

अन्त मे चौपट ! हाय ! मार खाना तक व्यर्थ हो गया । क्या करूँ । कही वह पाजी ससारीनाथ तिलोत्तमा से शादी भी न कर ले । अरे ! वह चले गये । वह जा रहे हैं । अजी महानुभाव सुनिए तो—

[ दौड़ता हुआ उसी तरफ़ जाता है ]

( पट-परिवर्तन )

---

## तीसरा दृश्य

[ स्थान—साहित्यानन्द का सम्पादकीय कमरा ]

[ चपला का नख़रे से भागती हुई और संसारीनाथ का उसका पीछा करते हुए आना ]

चपला—नही-नहीं, ईश्वर के लिए मेरा हाथ न पकड़िए ।

ससारी—अच्छा तो चरण-कमल ही पर सर रख लेने दो ।

[ पैरों पर गिरने के लिए बढ़ता है ]

चपला—( पिछड़ती हुई ) नही-नहीं, हाथ जोड़ती हूँ ।

संसारी—मैं भी हाथ जोडता हूँ । ज़रा चरण-धूलि से कुछ सन्तोष कर लेने दो । देखो, तुम्हारे दर्शनों के लिए किस तरह बेमौत मर रहा था, तडप रहा था ।

चपला—जी हाँ। तभी तो महीनों से मुँह छिपाये हुए थे।

संसारी—आह ! क्या मैं अपनी ख़ुशी से नही आता था ? मेरा बस चलता तो आने की कौन कहे, तुम्हे सामने बिठाये रातों-दिन पूजा ही किया करता ? एक क्षण के लिए भी तुम्हें अपनी निगाहों से ओट होने न देता। मगर क्या करूँ अपनी तकदीर को, कि यहाँ चोर की तरह आने तक का भी मौका नहीं पाता।

चपला—क्यों नहीं। (मुस्कुरा कर) तिलोत्तमा के साथ शादी करने के मनसूबों से छुट्टी मिले तब तो।

संसारी—क्या ? क्या ? क्या ? अरे ! तुम भी जान-बूझ कर अनजान बनने लगीं ? मेरी तो जान पर आ बनी है और तुम्हे ठट्ठे की सूझी है।

चपला—इसमे ठट्ठे की कौन सी बात है ? आप शौक से शादी कीजिए। मैं अभी से मुबारकबाद देती हूँ।

संसारी—आह ! न मानोगी, हाथ जोड़ता हूँ। इस क्षण भर के मिलन को यों हँसी मे न टालो। तुम तो जानती ही हो कि तिलोत्तमा सिर्फ एक नाम के सिवा और कुछ भी नहीं है।

चपला—जी रहने दीजिए। जिसने न देखा हो उससे कहिए। मुझे सब बातों की ख़बर है।

संसारी—(अलग) यह क्या ? कहीं यदुनाथ ने तो

नही साहित्यानन्द के लिए कोई सचमुच ही तिलोत्तमा नाम की लड़की ढूँढ़ निकाल कर मेरे सर यह नयी आफ़त खडी कर दी ?

चपला—क्यों, क्या हुआ ? चोरी पकड़ी जाते ही सिटपिटा गये ?

संसारी—हाय ! मुझ पर क्यों अविश्वास करती हो। मै इस नाम की कोई भी स्त्री नही जानता।

चपला—सचमुच ? अगर मै उसका चित्र दिखा दूँ, तब तो उसे आप पहचानेंगे ?

संसारी—अयँ ! कैसा चित्र ?

चपला—बड़ा सुन्दर और हृदय मे बसने वाला।

ससारी—( अलग ) हाय ! क्या मेरे दोस्तों ने मेरी जड़ खोदने के लिए किसी स्त्री का चित्र भी इसके पास भिजवा दिया ?

चपला—सबूत के डर से अभी से घबड़ाने लगे ?

ससारी—मै आप ही मर रहा हूँ। मुझे इन बातों से क्यों परेशान करती हो ?

चपला—तो क्या मै झूठ कहती हूँ ?

संसारी—कहाँ है चित्र, देखूँ तो सही।

चपला—अभी लाती हूँ।

[ दौड़ती हुई जाना ]

संसारी—( अकेला ) मै नहीं जानता था कि यह

कम्बख़्त यदुनाथ मेरा दोस्त होकर मेरा ही गला काट रहा है ? मेरी मदद करने के बहाने मेरे ही सर्वनाश की ताक मे है ? उसकी ऐसी-तैसी। दोस्ती गई भाड़ मे, आज मैं बिना उसके कलेजे का खून पिये मानूँगा नही।

[ चपला एक नीली या बैंगनी रङ्ग की भडकीली ओढनी और काग़ज़ से लिपटे हुए एक पैकेट को लेकर आती है ]

चपला—( संसारीनाथ को ओढ़नी देकर ) लीजिए, इसे पहले सर पर डाल कर जिस तरह से फोटोग्राफर लोग कैमरा के प्लेट पर चित्र देखने के लिए काले कपड़े का घूँघट निकालते हैं, वैसा ही इससे घूँघट निकाल लीजिए। क्योंकि चित्र शीशे पर इस तरह गुप्त रूप से बना है, कि जब तक काले-नीले या बैंगनी रङ्ग के कपडे से घेर कर यह देखा नहीं जाता, तब तक उस पर चारों तरफ से रोशनी पड़ने से वह साफ दिखाई नहीं पड़ता।

संसारी—( ओढनी लेकर अपने सिर पर डालता हुआ—अलग ) बाप रे बाप ! इतना बड़ा विश्वासघात ! कम्बख़्तों ने चित्र भी भिजवाया तो ऐसा गुप्ती, ताकि उनकी बदमाशी का मैं पता तक न पाऊँ ? अच्छा। ( प्रकट ) हाँ लाओ, अब वह चित्र देखूँ।

चपला—( पैकेट खोलती हुई ) निकालती हूँ। जब तक एक मिनट के लिए ज़रा आँखें बन्द कर लीजिए, ताकि आँखों से चकाचौंध मिट जाय। आँखे बन्द कर लीं ? अच्छा

जब मै कहूँ तब खोलियेगा। ( पैकेट से एक आईना निकाल कर संसारीनाथ के मुँह के सामने करती है ) अब आँखे फाड़ कर इसे देखिए तो। ( मुस्कुराती है )

ससारी—( घूँघट काढ़े हुए ) अरे ! यह चित्र कहाँ, यह तो आइना है।

चपला—हाँ-हाँ, इसी मे देखिए प्रेम-रस की लेखिका श्रीमती तिलोत्तमा देवी को। देखा ? ( हँसती है )

संसारी—आह ! अब समझा। ( जल्दी से ओढ़नी फेंक कर चपला को गोद में उठा लेता है ) अरी चपला तू तो बड़ी नटखट है। ( मुँह चूम लेता है ) आह ! प्यारी !

[ चपला अपने को छुडा कर भाग जाती है और संसारानाथ उसका पीछा करना चाहता है ]

ससारी—( उस तरफ़ देखता हुआ एकाएक घबडा कर ) अरे ! चपला की माॅ ने देख लिया। हाय ! गजब ! यह क्या हुआ ? ( लौट कर दूसरी तरफ भागना चाहता है। मगर उधर से भी पलट पडता है। ) अररर ! इधर से उसके बाप आ रहे हैं। हाय ! अब किधर भागूँ ?

[ मेज़ के नीचे घुस कर छिप जाता है—मेज़ बेत या चीड की बहुत हल्की और काफ़ी बडी, जिसके नीचे दो आदमी आसानी से बैठ सके, होनी चाहिए। ]

[ साहित्यानन्द और बनावटी रूप मे यदुनाथ का बातें करते हुए आना। ]

साहित्यानन्द—तो वह दुष्ट संसारीनाथ पत्रिका निकाल कर सम्पादक भी बन बैठा ?

यदुनाथ—जी हाँ, यह उनका विज्ञापन देख लीजिए। ( विज्ञापन दिखाता है। उसे साहित्यानन्द गुस्से में छीन कर फाड़ देता है ) इसे फाड़िए चाहे जो कुछ कीजिए, मगर आप उन्हें अब गाली-वाली न दीजिए।

साहित्यानन्द—तो क्या सचमुच ही आप अपनी तिलोत्तमा का विवाह उसी के साथ करेंगे ?

यदुनाथ—हम लोगों के सौभाग्य से अब वह सचमुच सम्पादक भी बन गये तो अब हमे अपना वचन पालन करने मे कौन सी आनाकानी रह गई ? क्योंकि यही तो हमारी सदा की लालसा थी, कि तिलोत्तमा को किसी सम्पादक ही से वरूँगा।

साहित्यानन्द—परन्तु वह धूर्त है धूर्त, महाधूर्त।

यदुनाथ—वाह ! वाह ! यह तो और भी अच्छा है। क्योंकि उनके ऐसे आजकल के सम्पादकों के लिए यही तो एक ख़ास गुण है, जो अपना चमत्कार दिखायेगा।

साहित्यानन्द—( अलग ) अररर ! धूर्तता भी आधुनिक सम्पादकीय गुण निकल गई ? ( प्रकट ) परन्तु, परन्तु उसमे योग्यता नहीं है, ख्याति नहीं है, बुद्धि नहीं है, इत्यादि-इत्यादि भी नहीं है। तिलोत्तमा ऐसी साहित्यिक—तिक—तिक—तिक—ज्ञा को ऐसे अनुचित

पात्र से विवाह करना साहित्य का खून करना—उहुँक रुधिर करना—है। आप उसके लिए उच्च कोटि का उच्च सम्पादक चुनिए, जिसकी जिह्वा से साहित्य की धारा बहती हो, जिसके मुख खोलते ही कविता टपकती हो। उस साहित्य-सेविका के लिए ऐसा साहित्य का सपूत होना चाहिए।

यदुनाथ—परन्तु अफ़सोस तो यह है कि आजकल ऐसा विलक्षण साहित्य का सपूत भला है कहाँ?

साहित्यानन्द—ना-ना, अफ़सोस—उहुँक खेद—न कीजिए, यह क्या खड़ा है।

यदुनाथ—कौन आप? हाँ आप हैं तो वैसे ही, इसमें शक नहीं है। मगर मेरे किस काम के?

साहित्यानन्द—बड़े काम के हैं।

यदुनाथ—मगर आपके तो स्त्री है ही।

साहित्यानन्द—( इधर-उधर देख कर आहिस्ते से ) परन्तु वह मूर्खा है, अशिक्षिता है, कङ्कालिनी है। वह कदापि मेरे सदृश सुयोग्य सम्पादक की अर्धाङ्गिनी होने के योग्य नहीं है। तभी तो कहता हूँ कि ऐसा सुअवसर पाकर मूर्खता न कीजिए।

यदुनाथ—हाय! मुझे पहले यह बात मालूम न थी। मगर अब क्या हो सकता है, अब तो बात पक्की हो चुकी। इसी पूर्णमासी को व्याह है।

साहित्यानन्द—अयँ ! इसी पूर्णमासी को, हाय ! हाय ! अच्छा तो इसके पहिले ही चुपके से मेरे साथ... !

यदुनाथ—ऐसा जो कहीं हो सकता तो फिर क्या कहना था ? मगर हम लोग तो सत्य हरिश्चन्द्र के सगे मामूँ के वंश से हैं। वचन देकर कभी तोड़ नही सकते। हाँ, वह तोड़ दे तो अलबत्ता और बात है। क्षमा कीजिए कृपानिधान, तिलोत्तमा के योग्य तो ईश्वर ने आप ही को रचा था, मगर क्या करूँ ? भाग्य का लेखा हाय ! अब कैसे मेटूँ ?

[ पछताता हुआ जाता है ]

साहित्यानन्द—( टहलता हुआ ) आह ! अब क्या करूँ ? किस भाँति उस दुष्ट संसारीनाथ से उसका वचन भङ्ग कराऊँ ? जाकर उसको ऐसा डण्डा मारूँ कि वचन समेत उसका मुण्ड ही भङ्ग हो जाय और वह अधम पूर्णमासी के पहिले सीधे—उहुँक सरल—यमपुरी सिधार दे। तब मैं ही मै रह जाऊँ। बस यही युक्ति ठीक है।... परन्तु इसमे तो फाँसी पाने का भय है। हाय ! तब क्या करूँ ? ( हताश होकर मेज़ के पास कुरसी पर बैठता है ) यदि वह दुष्ट वचन भङ्ग करने के लिए विवश नहा किया जायगा, तो मेरा सकल परिश्रम नष्ट हो जायगा। ( चौंक कर कुछ सुनता है ) अरे ! यह पदध्वनि किसकी है। क्या कोई पुरस्कार माँगने वाला तो नही है ? इन लोगों के मारे आजकल घड़ी भर भी विश्राम नहीं मिलता।

[ जिस मेज़ के नीचे संसारीनाथ बैठा हुआ है, उसी के नीचे संसारीनाथ के उल्टी तरफ़ अपना मुँह किये साहित्यानन्द इस तरह घुस कर बैठता है, मानो उसे ख़बर नही है कि उसके नीचे उसके सिवाय और भी कोई है। ]

[ सरला का आना ]

सरला—अयँ ! कहाँ गये ? अभी तो उनकी आवाज़ यही सुनाई पड़ रही थी।

[ संसारीनाथ अपने सर पर मेज़ लिये हुए खड़ा हो जाता है और उसी तरह मेज़ लिये चल देता है। और साहित्यानन्द अपनी जगह पर ज्यों का त्यों बैठा रह जाता है। ]

साहित्यानन्द—अरे ! अरे ! यह क्या ?

सरला—( साहित्यानन्द को देख कर ) अयँ ! तुम मेज़ के नीचे थे ?

साहित्यानन्द—( उठ कर ) तू है ? धत् तेरे की ! चल हट, मैं तुझ ऐसी मूर्खा से वार्तालाप करना नही चाहता, जिसे इतना भी ज्ञान नहीं कि सम्पादकीय कोठरी मे किस प्रकार अनुमति प्राप्त कर आना चाहिए।

सरला—और मुझे तो तुम ऐसे ज्ञानी का मुँह तक देखना गवारा नहीं, जिसे इतनी भी तमीज़ नही कि कुर्सी पर बैठना चाहिए या दुम दबा कर मेज़ के नीचे। मगर क्या करूँ, बात ही ऐसी पड़ गई कि आना पड़ा।

साहित्यानन्द—अरे जा, हम ऐसे उच्च सम्पादकगण

लेख लेते समय चौकी के ऊपर विराजमान रहते हैं, परन्तु उसका पुरस्कार देते समय झट उसके नीचे दुबुक जाते है। यह सम्पादकीय कला-कौशल तू क्या जाने ?

सरला—तुम्हारी कला-कौशल गई भाड मे। कुछ अपनी मूँछ की भी फिक्र है ?

साहित्यानन्द—( मूँछे ऐंठ कर ) है क्यों नहीं ? रोज—उहुँक प्रतिदिन—ऐंठता हूँ।

सरला—अरे ! एक दिन उखड़ जायगी। याद रक्खो। तब इसे ऐंठने के बदले कर्मों पर हाथ रख कर रोओगे। बताये देती हूँ, जवान लड़की का घर मे अब बिठाले रखना अच्छा न होगा। अब भी खैरियत है, उसकी शादी तुरन्त संसारीनाथ के साथ कर दो।

साहित्यानन्द—उस पाजी संसारीनाथ के साथ ? अरे ! वह तो महा-महा-महादुष्ट है।

सरला—सभी मर्दुए ऐसे होते हैं। फिर भी वह तुमसे लाख दर्जे अच्छा है। उसके अक़्ल तो है।

साहित्यानन्द—उसने मेरे गले—उहुँक ग्रीवा—पर छुरी फेरी है छुरी, तू क्या जाने ?

सरला—अब अपना गला देखो या अपनी नाक। कहे देती हूँ, कहना मान जाओ, नही पछताओगे। अब इससे ज़्यादा मुझसे न कहलाओ। यही अपना बड़ा सौभाग्य

समझो कि बिना दौड़े-धूपे लड़का मिल गया है और वह बिना कुछ लिये-दिये शादी भी कर लेगा।

साहित्यानन्द—परन्तु उस धूर्त की बातचीत—उहुँक घार्तालाप—तो अन्य जगह पक्का हो चुका है।

सरला—क्या?

साहित्यानन्द—अरे! दूसरी जगह उसकी बातचीत पक्की हो गई है।

सरला—यह तुम्हारी मूर्खता की बदौलत। जो अब तक इसकी फिक्र नही की। अब भी कोशिश करो तो मै दावे से कहती हूँ कि वह यहाँ छोड कर और कहीं शादी कर नहीं सकता।

साहित्यानन्द—हॉ? वहाँ की बातचीत उखड जायगी? (जल्दी-जल्दी टहल कर सोचता हुआ) हॉ, सम्भव है। ओहो! सम्भव नहीं अवश्य है, अवश्य। यह युक्ति तो अत्युत्तम उत्पन्न हो गई। परन्तु, परन्तु, पूर्णमासी के पहिले उससे साक्षात् हो तब तो।

सरला—अभी तो वह यही था, तुम्हारे पास।

साहित्यानन्द—कहॉ? यहाँ? मेरे पास? असम्भव है।

सरला—वाह रे आँख के अन्धे! और मेज़ कौन तुम्हारे सर पर से उठा ले गया?

साहित्यानन्द—कौन? वही था? वही धूर्त? अरे! मै समझा कि तूने हटा दिया। अच्छा किधर गया

किधर ? किस दिशा मे उसने गमन किया ? बोलो-बोलो-बोलो।

सरला—इधर ही। मगर जहाँ तक मैं समझती हूँ, अभी वह यहीं कहीं होगा।

साहित्यानन्द—हाँ! तब तू दौड़ कर द्वार मे ताला लगा दे ताला। जब तक मै पिछवाड़े का द्वार बन्द करने जाता हूँ, ताकि वह यहाँ से बाहर निकल न पावे। शीघ्रता कर शीघ्रता। साले को पूर्णमासी तक घर ही मे बन्द रक्खूँगा। ( बदहवास जाता है )

सरला—वाह री बदहवासी! लड़की की शादी के लिए कहाँ इतनी लापरवाही थी और कहाँ अब ऐसी छटपटाहट ? अरे सुनो तो!

[ पीछे-पीछे जाती है ]

( पट-परिवर्तन )

---

## चौथा दृश्य

[ स्थान—रास्ता ]

[ रमाकान्त और संसारीनाथ का ख़ुशी में बातें करते आना ]

रमाकान्त—कहो दोस्त, अब तो समझे ?

संसारी—हाँ भाई, तुम लोगों की सचमुच बड़ी ही

बेढब चाल थी। अब जाकर समझ मे आई। मुझे तो स्वप्न मे भी उम्मेद न थी कि भला कभी साहित्यानन्द खुद अपने मुँह से चपला की शादी के लिए मुझसे कहेगे।

रमाकान्त—अभी क्या, जब नाक रगड़े तब बात है। बस तुम जरा अकड़े रहो।

ससारी—नहीं भाई, यह न कहो। हाथ जोड़ता हूँ, इसके लिए मुझे अब मजबूर न करो। बहुत हो चुका, अब सब्र नहीं हो सकता।

रमाकान्त—तो क्या जान निकल जायगी? अजी नही। जब नाउम्मेदी मे तुम नहीं मर सके, तो अब कुछ थोड़े ही मर जाओगे।

संसारी—एक तो रो-रोकर यह दिन देखना नसीब भी हुआ, उसमे भी टालमटूल। आखिर इससे फायदा?

रमाकान्त—तुम क्या जानो? बस समझ लो कि यह भी हम लोगों का एक मसखरापन है, जिसकी थाह नहीं मिलती। (पीछे देख कर, अलग) अरे! वह फिर पहुँचा॥ (प्रकट) अच्छा आओ, इधर चलो तो इसका रहस्य बताता हूँ।

[दोनों का एक तरफ़ जाना और दूसरी तरफ़ से लालटेन लिये साहित्यानन्द का आना]

साहित्यानन्द—(लालटेन रख कर) थक गया—उहुँक—शिथिल हो गया। संसारीनाथ के पीछे-पीछे घूमते—उहुँक

उसके पश्चात्-पश्चात् भ्रमण करते शिथिल हो गया। ( पगडी उतार कर सर पर हाथ फेरने के बाद ) कहाँ वह चपला के साथ विवाह करने के लिए इतना लालायित था और कहाँ वह अब इस वार्ता से पलायन करता-करता फिरता है। इसका कारण केवल तिलोत्तमा की विद्वत्ता और साहित्यिक योग्यता है, जिससे चकित होकर अब इधर वह ध्यान नहीं देता। क्या बताऊँ, किसी प्रकार से चपला के विवाह के जाल मे फँसा कर, उससे मैं उसका तिलोत्तमा के साथ विवाह करने का वचन भङ्ग करा देता, फिर वह चूल्हे-भाड़ मे जाय, मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है। जहाँ मेरा मनोरथ सिद्ध हुआ, तहाँ तो फिर हाँ! मैं भला उस पाजी के साथ कहीं चपला का विवाह करूँगा? अस्तु! बहुत घेरने-घारने पर उसने इतना तो कहा कि अच्छा सोच-समझ कर उत्तर दूँगा। परन्तु वह दृष्टिगोचर हो तब तो उससे उत्तर पूछूँ। कहीं वह इसी भाँति पूर्णमासी तक न सोचता-समझता रह जाय? हाय! हाय! तब तो साला तिलोत्तमा को मार ही ले जायेगा। ऐसी विदुषी, ऐसी पण्डिता, ऐसी उच्च विचारशीला रमणी उस पाजी को मिले और मै अपनी सारी योग्यता लिए मुँह देखता रह जाऊँ। हे ईश्वर! यह तुम्हारा कैसा उल्टा—उहुँक—विरुद्ध न्याय है।

[ यदुनाथ का बनावटी रूप में आना ]

यदुनाथ—( अलग ) ओहो ! उस्तादों से चाल ? मै पहिले ही समझता था। खैर ! अब तो छिपकर इसकी बाते भी सुन ली। ( प्रकट ) जय राम जी की !

साहित्यानन्द—( घूम कर लालटेन उठाकर मुँह देखता हुआ ) कौन ? कौन ? ससारीनाथ ? अरे ! नहीं आप हैं ? आहा ! प्रणाम ! प्रणाम ! मैं आप ही के यहाँ जा रहा था ?

यदुनाथ—क्यो ?

साहित्यानन्द—क्या आपने नहीं सुना ? ससारीनाथ मेरी पुत्री से विवाह करना चाहता है। इसीलिए मै आपको सावधान करने जा रहा था कि वह आप लोगों को धोखा दे रहा है।

यदुनाथ—मै समझता हूँ कि कहीं वह आपको न धोखा दे रहा हो।

साहित्यानन्द—नहीं-नही, इसे आप विश्वास तो कीजिए !

यदुनाथ—मेरे विश्वास करने से क्या होता है, जब तिलोत्तमा को भी विश्वास हो तब तो। क्योंकि वह शिक्षिता लडकी है और अपने हृदय मे संसारीनाथ की इतनी अटल भक्ति धारण किये हुए है कि जब तक वह स्वय अपनी आँखों से संसारीनाथ को अन्य युवती से विवाह करते देख न लेगी, तब तक वह उसके विरुद्ध कोई भी बात सुन नहीं सकती, न वह किसी प्रकार से अपने

सङ्कल्प पर से पिछड़ सकती है, और न उसकी धारणा ही मिट सकती है। यही तो अड़चन है। अच्छा जय राम जी की ! पूर्णमासी नज़दीक है और अभी मुझे बहुत-कुछ इन्तज़ाम करना है। ( चल देता है )

साहित्यानन्द—अरे ! तो क्या सचमुच ही मुझे चपला को ससारीनाथ के साथ विवाह करना पड़ेगा ? अच्छा यही सही। उस पाजी को मैं तिलोत्तमा के साथ कदापि विवाह न करने दूँगा। परन्तु वह दुष्ट मुझे कहीं मिले भी तो सही। अब उसे कहाँ खोजूँ ? ( जाता है )

---

## पाँचवाँ दृश्य

[ स्थान—धनीराम का मकान ]

[ रमाकान्त का दौड़ते हुए आना ]

रमाकान्त—( धनीराम के दरवाज़े पर पुकारता हुआ ) बाबू धनीराम ! अजी बाबू धनीराम ! ज़रा जल्दी आइएगा !

[ धनीराम का बाहर आना ]

धनीराम—ओहो ! बाबू रमाकान्त ? आ गये ! कहो-कहो, क्या ख़बर है ?

रमाकान्त—क़िला फतह हो गया।

धनीराम—सचमुच ?

रमाकान्त—हाँ, साहित्यानन्द ने अपनी लड़की की शादी संसारीनाथ से कर दी।

धनीराम—वाह यदुनाथ! ग़ज़ब की खोपड़ी रखता है। मैं तो उसके मसख़रेपन को महज़ खेल ही समझता था, मगर उफ़ ओ! उसके भीतर कितनी गहरी चाल थी, अब जाना। किन-किन तरकीबों से उसने साहित्यानन्द को यह शादी कर देने के लिए मजबूर किया है कि तारीफ नहीं करते बनती।

रमाकान्त—अच्छा तारीफ पीछे कीजिएगा। मगर आप तो सब सामान से लैस हैं, जिसके जानने के लिए मै दौड़ाया गया हूँ। क्योंकि आज पूर्णमासी है। आज साहित्यानन्द तिलोत्तमा के साथ चुपचाप अपनी शादी करने आपके यहाँ आयेगा।

धनीराम—अरे! भाई तुम लोगों की मिहनत तो अब पूरी हो गई। अब उसके पीछे क्यों पड़े हो?

रमाकान्त—वाह! वाह! मार्के की बात, जिसके बिना हमारा सारा खेल फीका है, वह तो अभी बाकी ही है।

धनीराम—क्या?

रमाकान्त—वही तिलोत्तमा के साथ साहित्यानन्द की शादी। उसके अख़बार निकालने के उद्देश्य की पूर्ति।

धनीराम—अजी चलो भी। भला यह झूठमूठ की शादी किस तरह निबाहोगे?

रमाकान्त—आप बस देखते जाइए। वह लीजिए, बाजे वाले अपनी-अपनी डफली लिए पहुँच भी गये।

[ दो-चार बाजे वालों का आना ]

बाजे वाले—सरकार लोगों की बढ़ती रहे। अब हुकुम है सरकार, बजाना शुरू करें ?

रमाकान्त—हाँ जी।

[ बाजे वाले बाजा बजाते हैं और बनावटी रूप मे यदुनाथ तेज़ी से आता है ]

यदुनाथ—हाँ-हाँ, बन्द करो, बाजा बन्द करो। और तुम लोग जाओ।

[ बाजा बन्द हो जाता है और बाजे वाले जाते हैं ]

रमाकान्त—यह क्या ? क्या प्रोग्राम बदल दिया ?

यदुनाथ—नहीं जी ! अभी-अभी साहित्यानन्द ने खत लिख कर मुझे ताकीद की है कि शादी चुपचाप होगी। किसी के कानोंकान ख़बर न हो और न बाजे-गाजे का ही कुछ इन्तज़ाम हो।

धनीराम—यह क्यों ?

यदुनाथ—अपनी स्त्री के डर के मारे। वह चाहता है कि उसकी स्त्री को ख़बर न हो और वह शादी कर ले। फिर बाद को देखा जायगा। तब वह क्या कर सकती है ? खाली चाँद ही तो गञ्जी कर सकती है। शादी तो नहीं उलट सकती।

धनीराम—हाँ, ख़याल तो अच्छा है। चलो इस बेकार की भब्भड़ से अच्छी छुट्टी मिली।

यदुनाथ—मगर उसी के साथ उस कम्बख़्त ने एक बुरी शर्त लगा दी है, जिससे मेरे होश गुम हैं।

धनीराम और रमाकान्त—वह क्या?

यदुनाथ—वह शादी के पहले तिलोत्तमा को देखना चाहता है।

रमाकान्त—यह तो बुरी सुनाई। संसारीनाथ की शादी हो जाने से उसे कुछ इतमीनान सा हो गया है तभी।

धनीराम—अब कहो। अब तो कलई खुल जायगी?

यदुनाथ—क्या बताऊँ, अगर मुझे पहले से इसकी खबर होती! ख़ैर, फिर भी कोई हर्ज नहीं। जो कुछ जल्दी मे कर सका, वही ठीक है।

[ दासी का बाहर से आना ]

दासी—आप लोग जरा हट जाइए। तिलोत्तमा दीदी की डोली आ गई। ( पीछे घूम कर ) डोली वही उतार दो।

यदुनाथ—हम लोग मुँह फेरे खड़े हैं, उन्हे बेखटके भीतर ले जाओ।

[ दासी बाहर जाकर एक नवयुवती को साथ लाती है और उसे लिए मकान में जाती है ]

धनीराम—अरे यार ! क्या सचमुच तुमने किसी स्त्री का भी इन्तज़ाम किया है। ग़ज़ब करते हो। कहाँ से लाये ? कौन है कौन ? है तो यार बड़ी ख़ूबसूरत।

यदुनाथ—इसे इस वक़्त बस तिलोत्तमा ही समझ लीजिए। अरे ! दूल्हे साहब आ रहे हैं। आप लोग खिसकिए, खिसकिए !

[ धनीराम और रमाकान्त का एक तरफ़ जाना ; और दूसरी तरफ़ से साहित्यानन्द का बग़ल में एक गठरी दबाये इधर-उधर आगे-पीछे ताकते हुए आना। ]

साहित्यानन्द—ओहो ! पहुँच गया, पहुँच गया। सकुशल पहुँच गया। मुझे मार्ग भर यही शङ्का बनी रही कि कहीं वह चाण्डालिनी न मेरे पीछे आती हो। इसीलिए मै अपना विवाह-वस्त्र सब काँख के नीचे दबाये हुए हूँ।

यदुनाथ—आहा ! आप हैं दूल्हाराम। शुभागमन ! शुभागमन ! शुभ . !

साहित्यानन्द—अभी नहीं, अभी नहीं, तनिक विलम्ब कीजिए। मुझे दूल्हाराम तो बन जाने दीजिए। ( बग़ल की गठरी में से जामा-जोडा, मौर इत्यादि निकाल कर पहनता है ) उसी कङ्कालिनी के मारे इसे छिपा कर लाया था। नहीं तो ठाट-बाट करके धूमधाम के साथ पालकी पर आरूढ़ होकर आता। हाँ, शुभागमन कीजिए, परन्तु पहिले देवी जी को मेरा प्रणाम भेज—उहुँक—प्रस्थान कर दीजिए।

क्योंकि देवी का दर्शन करके तब शुभ कार्य आरम्भ करना चाहिए। यह बड़ा आवश्यक है।

यदुनाथ—अच्छी बात है।

[ यदुनाथ भीतर जाकर लौट आता है और दासी कुर्सियाँ लाकर बाहर रखती है ]

साहित्यानन्द—( अलग ) जब तक मै अपनी सब से उत्तम कविता स्मरण कर लूँ, ताकि जैसे ही वह पदार्पण करे, वैसे ही मै अपनी योग्यता झाड दूँ।

[ दासी नवयुवती को साथ लेकर निकलती है ]

यदुनाथ—यही मेरी पुत्री तिलोत्तमा है।

साहित्यानन्द—( अलग ) हाय ! हाय ! यह तो बड़ी ही सुन्दरी है। जैसा गुण है, वैसा ही रूप भी है। उस पर अभी बालिका, निरी बालिका है। ऐसा अपूर्व सौन्दर्य, ऐसा विलक्षण माधुर्य ! वाह रे हम ! वाह रे हमारा भाग्य !

यदुनाथ—अब तो आप देख चुके ? यह यहाँ से जाय न ?

साहित्यानन्द—नहीं-नहीं, ( हाथ जोड कर ) अभी नही। तनिक आप लोग बैठ जाइए। मै इनका अपनी उच्च कविता से सत्कार तो कर लूँ।

[ सब लोग कुर्सियों पर बैठते है और दासी तिलोत्तमा के पीछे खडी होती है ]

[ साहित्यानन्द तिलोत्तमा को लक्ष्य करके कविता पढता है ]

अवलोकन कर तव मुख प्रवाल ।

द्रुतगति मञ्जु मनोहर मुखरित उद्वेलक तव चाल ।

सिहर-सिहर मन उठहि उबाल ॥

यदुनाथ—वाह ! वाह ! मुख के साथ प्रवाल और मन के साथ उबाल ! क्या कहना है ? कवियों की तो नानी मर गई होंगी ।

साहित्यानन्द—जी हाँ, मूँगे के समान मुख बताना अब तक किसी के बाप—उहुँक पिता—को भी नहीं सूझा था । और सौन्दर्य देखते ही मन के लिए उबल उठना देखिए कितना सुन्दर हुआ है ।

यदुनाथ—क्यों नहीं, क्यों नहीं ! अब तो तिलोत्तमा, तुम्हे भी इसका कुछ उत्तर देना चाहिए ।

साहित्यानन्द—अवश्य, परन्तु उत्तर कविता ही मे हो ।

तिलोत्तमा—बहुत अच्छा, सुनिए साहित्यनिधान—

कुवलित केशानन्द तुरङ्ग—

उच्चण्डित खल्लोलित बेचित

दौड रहे मन मे मेरे

आशा धनुष घटावर वञ्चित

नयन तरल तीखे तेरे

अरे-अरे पगहीन भुजङ्ग ॥

यदुनाथ—बलिहारी पुत्री, बलिहारी ! कैसा जोड़ का

तोड़ कहा है। कहिए साहित्याचार्य जी, है न आप ही की कविता के समान ?

साहित्यानन्द—( वौखलाया हुआ ) जी हाँ, अपूर्व है—अपूर्व—विल्कुल मुँहतोड—उहुँक—सम्पूर्ण मुखभङ्ग उत्तर है।

यदुनाथ—इसके शब्द भी ऐसे हैं। देखिए उच्चखिडत, खल्लोलित, बेंचित इत्यादि। भला ऐसे अलौकिक शब्द हिन्दी के भण्डार मे कही मिल सकते हैं ?

साहित्यानन्द—कोप मे भी नही ?

यदुनाथ—जी नही। ये तो सस्कृत के भी कान काटते हैं। इनके मानी ससार मे भला किस कोप का साहस है कि वता सके ?

साहित्यानन्द—हाँ ? तव तो यह निस्सन्देह सब से उच्च कविता होगी। मै इसे अपनी पत्रिका के मुख-पृष्ठ ही पर प्रकाशित करूँगा। यह मेरा ही नही, सच पूछिए तो हिन्दी का सौभाग्य है, जो इस साहित्य-रमणी का विवाह मेरे साथ होने जा रहा है। आह ! योग्यता मे दोनों पल्ला वरावर !

यदुनाथ—अव तो आपने इसे देख-भाल कर अपना सव तरह से इतमीनान कर लिया ?

साहित्यानन्द—जी हाँ। यह सकल प्रकार से मेरे योग्य है। मेरे ऐसे विद्वानों के लिए ऐसी ही देवियाँ चाहिए, तभी हिन्दी का शीश उच्च हो सकता है।

तिलोत्तमा—परन्तु मैं भी तो देख लूँ कि यह मेरे योग्य हैं या नही। पुरुषों की इच्छा तो इच्छा, क्या स्त्रियों की इच्छा इच्छा ही नही है ?

यदुनाथ—अवश्य है। यह हम लोगों की मूर्खता है, जो हम अपनी स्त्रियों की इच्छाओं का कुछ भी खयाल नही करते। इसीलिए दिनोंदिन यह देश रसातल को जा रहा है। बेटी, तुम शिक्षिता हो। तुम देश की स्त्रियों मे अगुआ बनो, ताकि तुम्हारी बहिने तुम्हारा अनुकरण करके अपना सङ्कट दूर करे।

तिलोत्तमा—तब तो मै भी इनकी परीक्षा लेकर अपना सन्देह मिटा लूँगी, तब विवाह करूँगी।

यदुनाथ—अवश्य। कहिए साहित्यानन्द जी, आप तो इसकी परीक्षा ले चुके ? अब आप भी इसकी परीक्षा के लिए तैयार हैं ?

साहित्यानन्द—हाँ-हाँ, ऐसी मनमोहनी देवी के लिए मैं कुएँ तक मे कूद सकता हूँ, परीक्षा की क्या वार्ता है ?

तिलोत्तमा—एवमस्तु। अच्छा दासी—( साहित्यानन्द से ) क्षमा कीजिएगा, दासी साहित्यिक भाषा समझ नहीं सकती, इस हेतु इससे अपभ्रंश भाषा बोलना पडता है। ( दासी से ) हाँ दासी, इनकी उम्र मुझे कुछ ढली हुई मालूम होती है। इसलिए इन्हें तनिक दौडा कर और उठा-बैठा कर देख कि इनमे कुछ शक्ति है या नहीं।

साहित्यानन्द—अरे! यह किस ढङ्ग की परीक्षा है?

दासी—अब आना-कानी न कीजिए। जैसा हुकुम होता है वैसा कीजिए।

[ दासी साहित्यानन्द का हाथ पकड़ कर दौड़ाती है और जब वह थक जाता है, तब उठाती-बैठाती है ]

यदुनाथ—( अलग ) अब मैं जाकर इसकी स्त्री को ख़बर कर दूँ, तब मज़ा आये। ( चुपके से चल देता है )

साहित्यानन्द—बस-बस-बस। श्वास फूल गया। अरे बस कर।

तिलोत्तमा—अब देख, इनके बाल नकली तो नहीं हैं। क्योंकि आजकल बहुत से बुड्ढे नकली बाल लगा कर शादी करने के लिए जवान बन जाते हैं।

[ दासी साहित्यानन्द की पगड़ी उतार कर उसके बाल नोचती है ]

साहित्यानन्द—अरे! अरे-अरे! इतने जोर—उहुँक—बल से नहीं। सकल खोपड़ी चरचरा उठी।

तिलोत्तमा—दाँतों को भी देख ले। शायद पत्थर के बने हों।

दासी—हाँ-हाँ, मुँह न छिपाइए। सामने मुँह कीजिए।

साहित्यानन्द—नहीं-नहीं, मेरे दन्त असली—उहुँक—मौलिक हैं मौलिक। शपथपूर्वक कहता हूँ।

दासी—मैं मौलिक फौलिक कुछ नहीं समझती। इधर मुँह कीजिए।

[ ज़बरदस्ती उसका मुँह सामने करके मुँह पर घूँसा मारती है ]

साहित्यानन्द—अरे ! बाप रे बाप ! मर गया। भाड़ मे गई ऐसी परीक्षा।

तिलोत्तमा—अरे आप तो अभी से घबड़ाने लगे ? अच्छा दासी जल्दी कर। हाँ, कपड़े से इनका मुँह भी मल कर देख ले, कही पाउडर तो नही लगाए हुए हैं।

[ दासी एक कपडा लेकर, जिसमें छिपी हुई कालिख लगी होती है, साहित्यानन्द के मुँह पर खूब रगड़ती है। इस तरह उसका चेहरा बिल्कुल काला पड जाता है। ]

साहित्यानन्द—अरे ! धीरे-धीरे मल। हाय ! हाय ! सम्पूर्ण मुख भन्भा उठा। अरे ! बोलो-बोलो, अब तो मै इस परीक्षा मे सफल हुआ ?

[ ग़ुस्से मे सरला का आना और उसके पीछे संसारीनाथ, चपला, यदुनाथ, रमाकान्त, धनीराम का आना। ]

तिलोत्तमा—यह लीजिए, आपके इम्तहान का नतीजा सुनाने यह आ गईं।

सरला—आयँ ! यह क्या ! यह क्या देख रही हूँ ? इनके मुँह मे कालिख क्यों लगाई जा रही है ?

दासी—बुढ़ौती मे शादी करने आये हैं, इसलिए।

साहित्यानन्द—क्या ? क्या ? क्या ? मेरे मुँह में कालिख ? और यह कौन ? हाय ! हाय ! यह हरामज़ादी यहाँ कैसे पहुँची ?

सरला—शादी, कैसी शादी ? अरे ! यह तो सचमुच शादी के कपड़े भी पहने हुए हैं। और यह (तिलोत्तमा की तरफ़ झपटती हुई) चुड़ैल कौन है। क्या इसीसे यह शादी करने आया है ? खड़ी तो रह डाइन, तेरे बालों मे आग लगा दूँ।

तिलोत्तमा—अच्छा यह लीजिए। शौक से आग लगाए (अपने सर से बाल उतार कर फेकती है। उसके बाद अपने ज़नाने कपड़े उतार कर टेसू की शकल में नज़र आती है।)

सरला—कौन, टेसुआ ?

टेसू—जी सरकार !

साहित्यानन्द—हाय ! हाय ! यह क्या, यह तो मानो सब लोगों ने मिल कर मुझको उल्लू बनाया। यह शादी नही, बरबादी हो गई। हाय ! बाप रे बाप ! मै लुट गया। कहीं भी मुँह दिखाने लायक नहीं रह गया।

[ सब लोग साहित्यानन्द को प्रणाम करके हँसते हैं और वह सबको मारने दौड़ता है। ]

ड्राप

[ समाप्त ]